कौटिलीय अर्थशास्त्र-मीमांसा

प्रथम खण्ड

कौटिल्य की राज्य-शासन-व्यवस्था

—:o:—

लेखक

गोपाल दामोदर तामसकर, एम. ए. एल. टी.

प्रथम संस्करण

प्रकाशक

इण्डियन प्रेस, लिमिटेड,

प्रयाग

कौटिलीय अर्थशास्त्र-मीमांसा

प्रथम खण्ड—कौटिल्य की राज्य-शासन-व्यवस्था

विषय-सूची

पृष्ठ

पृष्ठ

—:०:—

प्रस्तावना

"कौटिलीय अर्थशास्त्र" से मेरा परिचय पहले-पहल सन् १९१९ में हुआ। इस क्लिष्ट ग्रंथ को पढ़ने में बहुत समय लगा। पढ़ने पर इच्छा हुई कि इसका मैं हिन्दी में अनुवाद करूँ ताकि सब हिन्दी-प्रेमी इसे पढ़ सकें। पर यह कार्य एक तो कठिन जान पड़ा; दूसरे, इतना अवकाश भी मेरे पास कभी न रहा कि मैं इतने भारी और कठिन ग्रंथ का अनुवाद कर सकूँ। इसी बीच में यह सुना कि हिन्दी के खटपटी लेखक श्रीयुत प्राणनाथजी इसका अनुवाद करने जा रहे हैं। तब तो मैंने अनुवाद का विचार बिलकुल त्याग दिया। तदनन्तर यह इच्छा हुई कि मैं इस ग्रंथ का आलोचनात्मक विवेचन लिखूँ। विषय-सूची बनाने बैठा तो पहले-पहल दस बारह ही विषय सूझे। मुझे अपने सरकारी काम के कारण कभी इतना अवकाश न मिलता था कि मैं समस्त विवेचन एक सिलसिले से लिख डालता। इसलिए यह विचार करना पड़ा कि विषयों का वर्गीकरण करके प्रत्येक वर्ग के विषयों पर अलग अलग लेख लिखूँ और उन्हें किसी मासिक पत्रिका में छपाते भी जाऊँ। जब लेख लिखने का काम प्रारंभ किया तब लेखों की सूची धीरे-धीरे बढ़ते बढ़ते ३३-३४ पर जा पहुँची। 'राज्यशासन-व्यवस्था' का ही भाग यथेष्ट बड़ा हो

गया। ज्यों ज्यों ये लेख लिखता जाता था, त्यों त्यों उन्हें बनारस से उस समय प्रकाशित होनेवाली "स्वार्थ" नामक मासिक पत्रिका में सन् १९२२ में छपाता जाता था। प्रथम पाँच लेख लिखने पर सन् १९२३ में सरकारी काम के बढ़ जाने से मेरा लेखन-कार्य आठ नौ महीने के लिए बंद हो गया और सन् १९२४ के चैत्र से "स्वार्थ" का छपना बंद हो गया। तथापि मैंने अपने लेख लिखना जारी रखा और इस प्रकार 'कौटिलीय राज्यशासन-व्यवस्था' पर मेरे विवेचनात्मक लेख तैयार हो गये।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उस समय तक केवल श्री शामशास्त्री का अँगरेज़ी अनुवाद उपलब्ध था और इसका मैंने अपने लेखों के लिए यथेष्ट उपयोग किया है। तथापि सुज्ञ पाठक यह भी जान सकते हैं कि मैंने अपनी बुद्धि और विद्या का भी इस ग्रंथ को समझने-समझाने में यथेष्ट उपयोग किया है। इसका यह मतलब नहीं है कि मैं अपने को श्री शामशास्त्री का समकक्ष विद्वान् समझता हूँ। मैं न तो संस्कृत का शास्त्री हूँ और न समस्त विद्यापारंगत हूँ। हाँ, थोड़ी बहुत विद्या मैंने भी प्राप्त की है और कुछ मोटी बुद्धि भी रखता हूँ। इन्हीं के सहारे मैंने यह आलोचनात्मक विवेचन लिखने की धृष्टता की है। मेरी पुस्तक न तो अनुवाद है और न टीका ही है। मुझे तो कई बार अपने वर्णन और सिद्धान्तों के लिए दस बीस स्थानों के उल्लेखों को

एकत्र करना पड़ा है। इस वर्णन और सिद्धान्त के प्रतिपादन में ग्रंथ की सर्व उपलब्ध सामग्री का यथाशक्य उपयोग करने का मैंने प्रयत्न किया है। यह कोई सरल कार्य नहीं है। ऐसा करते समय कई बार श्री० शामशास्त्री का अनुवाद मुझे ठीक न जान पड़ा और मुझे अपने निजी अर्थ का प्रतिपादन करना पड़ा। इन भिन्न अर्थों के कहीं कहीं मैंने कारण भी दे दिये हैं। डाक्टर फ्लीट जैसे संस्कृतज्ञ विद्वान् भी कभी कभी कैसी भूल कर बैठते हैं यह मेरे "कौटिल्य का काल-मान" नामक लेख से प्रकट हो जावेगा।

विचार तो था कि मैं अपने समस्त आलोचनात्मक विवेचन को परिपूर्ण रूप में प्रकाशित करूँ। यदि यह सिद्ध हो जाता तो यह ग्रंथ कदाचित् ५००-६०० पृष्ठों तक पहुँच जाता। इसी विचार से इस पुस्तक के परिशिष्ट में दिये हुए लेख "सरस्वती" में प्रकाशित करवाये। पर थोड़े अनुभव के बाद यह जँच गया कि इतने भारी विवेचनात्मक ग्रंथ को पढ़नेवाले बहुत कम मिलेंगे। लोग तो थोड़े में और सरल रूप में ऐसा विवेचन पढ़ना चाहेंगे। ऐसे भारी ग्रंथ के प्रकाशक का भी मिलना सरल काम न होगा। फिर, लेखक के श्रमों के सार्थक होने की बात सोचना ही व्यर्थ है। इस कारण यह विचार मन में आया कि पहले-पहल 'कौटिल्य की राज्यशासन-व्यवस्था' पर जो लेख लिखे हैं उन्हें ही मैं पुस्तकाकार प्रकाशित कराऊँ और उनके साथ "सरस्वती" में छपे लेखों को परिशिष्ट रूप

से जोड़ दूँ। यदि लोगों को यह विवेचन पसंद हुआ तो दूसरे संस्करण के समय अपनी समस्त कल्पना को "कौटिलीय अर्थशास्त्र-मीमांसा" के परिपूर्ण रूप में लोगों के सामने रखूँ इसी कारण यह पुस्तक इसी रूप में गत वर्ष (सन् १९२४ के जून में) इण्डियन प्रेस को प्रकाशनार्थ दे दी गई। अब वह लोगों के सामने है। विद्वज्जन ही बता सकते हैं कि मैं अपने कार्य में कहाँ तक सफल हुआ हूँ। यदि यह जान पड़ा कि मेरे श्रम बहुतांश में सफल हुए हैं और पुस्तक लोगों को पसंद है तो दूसरे संस्करण के समय यह अपने परिपूर्ण रूप में अवश्य प्रकाशित होगी।

इसको लिखते समय कहीं कहीं विन्सेण्ट स्मिथ कृत "भारत का प्राचीन इतिहास" के चन्द्रगुप्त के वर्णन से कौटिल्य के वर्णन की तुलना करनी पड़ी। विन्सेण्ट स्मिथ ने "कौटिलीय अर्थशास्त्र" के कुछ जर्मन टीकाकारों के उल्लेख अपने ग्रंथ में दिये हैं, पर जर्मन भाषा का ज्ञान बिलकुल न होने से उन टीकाकारों के कार्यों से मैं लाभ न उठा सका। मैं श्री प्राणनाथ की ग्रंथ-रचना-रीति से अच्छी तरह परिचित हूँ। इस कारण उनके अनुवाद से कोई विशेष लाभ की आशा मैंने न की। मैंने यह सोच ही लिया था कि श्री प्राणनाथजी शामशास्त्री के अँगरेज़ी अनुवाद का थोड़े बहुत फेरफार से हिन्दी-अनुवाद कर देंगे। यही बात श्रीयुत उदयवीर शास्त्रीजी ने अपने अनुवाद की प्रस्तावना में लिखी है।

खेद है कि श्रीयुत उदयवीर शास्त्रीजी के श्रमों से भी मैं लाभ न उठा सका। इन शास्त्रीजी ने जब अनुवाद करना प्रारम्भ भी न किया होगा तब ही मेरी यह पुस्तक पूर्ण हो चुकी थी और उनके अनुवाद के प्रकाशित होने से दो महीने पहले इण्डियन प्रेस को प्रकाशनार्थ दी जा चुकी थी। यदि प्रेस ने पुस्तक का प्रकाशन तत्काल किया होता तो उनके अनुवाद का तथा मेरी पुस्तक का प्रकाशन एक साथ हो जाता। पर मेरी पुस्तक एक साल किसी न किसी कारण से प्रेस में पड़ी रही। "सरस्वती" और "माधुरी" से अक्टूबर (१९२५) में ज्ञात हुआ कि पण्डित उदयवीर शास्त्रीजी ने भी "कौटिलीय अर्थ-शास्त्र" का अनुवाद अभी हाल में किया है। पर इससे पहले ही मई में मैं सूर्याघात (sunstoke) से बीमार हुआ और इस बीमारी के परिणामों ने पठन-लेखन-कार्य करने से मुझे वञ्चित कर दिया। इस कारण कल तक (तारीख़ २९ मई १९२६, तक) मैं श्रीयुत उदयवीर शास्त्री के अनुवाद को मँगवा कर देखने का सौभाग्य न प्राप्त कर सका। आज मैंने कुतूहलवश शास्त्रीजी के अनुवाद के दो चार पन्ने उलट पुलट कर देखे तो ऐसा ज्ञात हुआ कि कई स्थानों पर शास्त्रीजी का और मेरा अर्थ मिलता-जुलता है। हाँ, कहीं कहीं मतभेद अवश्य देख पड़ेगा। कहा ही है "पिण्डे पिण्डे मति-भिन्नः"। हाँ, मैं इस थोड़े परिचय से यह कहने की धृष्टता अवश्य करना चाहता हूँ कि श्री शामशास्त्री के अनुवाद से

पण्डित उदयवीर शास्त्री का अनुवाद कहीं अधिक ठीक है। सम्पूर्ण पुस्तक पर मत उसे आदि से अन्त तक ध्यानपूर्वक पढ़ने पर ही दिया जा सकता है। पर यह कहने में कोई बुराई नहीं कि पण्डित उदयवीरजी को भी कई स्थानों में ग्रंथ का अर्थ करने में बहुत कठिनाई से सामना करना पड़ा है और कहीं कहीं उन्हें भी कौटिल्य के शब्दों को बिना समझाते हुए ज्यों का त्यों रख देना पड़ा है। बात यह है कि अब बाईस सौ से अधिक वर्षों के बाद कौटिल्य के शब्दों का अर्थ समझने में सबको कम अधिक कठिनाई से सामना करना पड़ेगा। कदाचित् इसी प्रकार "वादे वादे जायते तत्त्वबोधः" के न्याय से इस ग्रंथ को हम लोग कुछ काल के बाद अच्छी तरह समझ सकेंगे। इसी लिए इस अल्पमति लेखक ने यह धृष्टता की है। मैंने जो भूलें की हों, उनकी सूचना यदि कारण सहित विद्वान् लोग मुझे देंगे तो अगले संस्करण के समय मैं उन पर अवश्य विचार करूँगा। 'नीरक्षीर-न्याय' से विद्वज्जन मेरे श्रमों को सफल करें ऐसी प्रार्थना कर यह प्रस्तावना समाप्त करता हूँ।

पेण्डरा

ज़िला बिलासपुर सी. पी. **गोपाल दामोदर तामसकर**

तारीख़ ३०–५–२६

कौटिल्य की राज्य-शासन-व्यवस्था

भाग पहला

प्रास्ताविक

अध्याय १

कौटिल्य और उसका 'अर्थशास्त्र'।

कुछ वर्षों से हिन्दुस्तान के इतिहास की खोज बड़े ज़ोरशोर से हो रही है। दक्षिण तथा बंगाल में इस विषय में विशेष प्रयत्न हुए हैं और उन्हें सफलता भी यथेष्ट मिली है। इन प्रयत्नों का परिणाम भी बहुत महत्त्व-पूर्ण हुआ है। इन खोजों में कौटिल्यकृत 'अर्थशास्त्र' विशेष उल्लेखनीय है। इस अध्याय के लिखने में हमें बहुत कुछ सहायता इस ग्रन्थ को ढूँढ़ कर मूल तथा अनुवाद के रूप में संसार के सामने प्रथम रखनेवाले श्रीयुत आर० शामशास्त्री महाशय की अँगरेज़ी प्रस्तावना से मिली है।

'अर्थशास्त्र' के रचयिता के विषय में विश्वसनीय बातें हमें बहुत कम मालूम हैं। ग्रन्थ के १५ 'अधिकरण' यानी भाग

हैं और प्रत्येक अधिकरण के अन्त में कौटिल्य का ग्रन्थकर्त्ता के नाम से उल्लेख है— 'एतावता कौटिलीयस्यार्थशास्त्रस्य······ अधिकरणं समाप्तम्' और पुस्तक के अन्त में यह श्लोक है—

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः ।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥

इससे यह स्पष्ट है कि जिस कौटिल्य ने नन्दों का नाश किया, उसी ने इस ग्रन्थ को रचा। कौटिल्य को कभी कभी विष्णुगुप्त भी कहते हैं और यह नाम पुस्तक के अन्तिम श्लोक में आया है—

दृष्ट्वाविप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम् ।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च ॥

अर्वाचीन काल के लेखकों ने इसी ग्रन्थकार को चाणक्य कहा है और आज-कल चाणक्य नाम ही विशेष प्रसिद्ध है।

कौटिल्य-द्वारा नंदों के नाश होने की तथा चंद्रगुप्त के राज्यासन पर बैठने की बात सत्य मालूम होती है क्योंकि इसका उल्लेख विष्णुपुराण में भी है—

"महापद्मः। तत्पुत्राश्चैकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यन्ति नवैव। तान्नन्दान्कौटिल्यो ब्राह्मणस्समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याश्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति। तस्यापि पुत्रो बिन्दुसारो भविष्यति। तस्याप्यशोकवर्धनः।

"पहला महापद्म। फिर उसके नव पुत्र एक सौ वर्ष तक

पृथ्वीपति होंगे। उन नन्दों को कौटिल्य नामक ब्राह्मण मारेगा। उनके बाद पृथ्वी के राजा मौर्य होंगे। स्वयं कौटिल्य चन्द्रगुप्त को राज्यासन पर बिठलावेगा। उसका पुत्र बिन्दुसार होगा और उसका पुत्र अशोकवर्धन।"

शिला-लेखादि से यह अच्छी तरह सिद्ध हो चुका है कि ईसा के ३२१ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त राजा हुआ और ईसा के २६९ वर्ष पूर्व अशोकवर्धन राजगद्दी पर बैठा। इससे सिद्ध होता है कि ईसा के ३२१ और ३०० वर्ष पूर्व के काल में कौटिल्य रहा और उसने अपना ग्रन्थ लिखा।

ऊपर जो बातें लिखी हैं उनका समर्थन कामन्दक के नीतिसार के प्रस्तावना-भाग से अच्छी तरह होता है। उसने लिखा है—

> यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
> पपात मूलतश्श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः॥ ४॥
> एकाकी मन्त्रशक्त्या यश्शक्त्या शक्तिधरोपमः।
> आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्॥ ५॥
> नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः।
> समुद्दे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥ ६॥
> दर्शनात्तस्य सुदृशो विद्यानां पारदृश्वनः।
> यत्किञ्चिदुपदेक्ष्यामः राजविद्याविदां मतम्॥ ७॥

दण्डी नामक प्रसिद्ध कवि ने भी विष्णुगुप्त को ही 'अर्थशास्त्र' का लेखक कहा है। इतना ही नहीं, दशकुमारचरित

के काल्पनिक राजदरबार के स्त्री-समाज को हँसाने के लिए उसने 'अर्थशास्त्र' से अनेक वाक्य भी उद्धृत किये हैं। उसने लिखा है—

अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्। इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिश्श्लोकसहस्रैस्संक्षिप्ता सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीय-माना यथोक्तकार्यक्षमेति ॥"

"तब दण्डनीति पढ़ो। इसे आचार्य विष्णुगुप्त ने मौर्य के लिए छः हज़ार श्लोकों में संक्षिप्त कर डाला है ताकि उसे पढ़ने और उसके अनुसार चलने पर उचित कार्यक्षमता उत्पन्न हो जावे"।

कौटिल्य ने अपना ग्रन्थ किसी राजा के लिए (संभवतः चन्द्रगुप्त के लिए) लिखा यह बात उसी के ग्रन्थ से सिद्ध होती है। उसने अपने ग्रन्थ के दूसरे अधिकरण के दसवें अध्याय के अन्त में कहा है—

सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः ॥

'अर्थशास्त्र' जैसा कुछ है, वही सच्चा 'अर्थशास्त्र' है इस विषय का दण्डी के ऊपर दिये उल्लेख से समर्थन होता है। दण्डी ने कहा है कि उसमें छः हज़ार श्लोक हैं और स्वयं ग्रन्थकार ने पहले अध्याय के अन्त में यही बात कही है—
"पञ्चदशाधिकरणानि सपञ्चाशदध्यायशतं साशीतिप्रकरण-शतं षट्श्लोकसहस्राणीति ॥"

" (इसमें) पन्द्रह अधिकरण, एक सौ पचास अध्याय, एक सौ अस्सी प्रकरण और छः हज़ार श्लोक (हैं)।"

इसी प्रकार, बाण नामक कवि ने अपनी 'कादम्बरी' में और 'पञ्चतन्त्र' के लेखक ने भी कौटिल्य* तथा चाणक्य को 'अर्थशास्त्र' का लेखक कहा है। वात्स्यायन ने अपने 'कमसूत्र' की रचना 'अर्थशास्त्र' के अनुसार ही की है, ऐसा जान पड़ता है। इसके उसके बहुत से वाक्य और पद मिलते जुलते हैं। रघुवंश और कुमारसंभव की टीका में कुछ शब्दों के अर्थों के स्पष्टीकरण के लिए मल्लिनाथ सूरि ने 'अर्थशास्त्र' के अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं। श्रीयुत शामशास्त्री ने अनेक शब्दों और वाक्यों की समानता तथा अर्थों की तुलना करके यह दिखा लाया है कि याज्ञवल्क्य पर कौटिल्य का बहुत सा ऋण है और यह कहा है कि याज्ञवल्क्य कौटिल्य के बाद हुआ। इसी प्रकार आपने यह कहा है कि मनुस्मृति भी 'अर्थशास्त्र' के बाद बनी। इसके लिए दोनों ग्रन्थों की रीतियों और नियमों की सारांश

---

* कौटिल्य के ही चाणक्य होने का एक प्रमाण 'मुद्राराक्षस' के ६ठे अङ्क में मिलता है। एक 'रज्जुहस्त पुरुष' कहता है—

षड्गुणसंयोगदृढ़ा उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी।
चाणक्यनीतिरज्जू रिपुसंयमनोद्यता जयति॥

चाणक्य और षड्गुणनीति का जो सम्बन्ध यहाँ दिखलाया है, वह 'अर्थशास्त्र' में ही देख पड़ता है। इसका विशेष वर्णन आगे होगा।

में आपने तुलना की है। याज्ञवल्क्य के बाद जिस ग्रन्थकार ने विष्णुगुप्त का उल्लेख किया है वह वराहमिहिर है। पर इस उल्लेख का विष्णुगुप्त 'अर्थशास्त्र' का कर्त्ता विष्णुगुप्त है या नहीं इसके विषय में यथेष्ट शंका है। जैन-ग्रन्थकारों ने भी 'अर्थशास्त्र' का उल्लेख किया है। सोमदेव सूरि राजा यशोधर के दरबार में था। अपने ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत' के अन्त में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का उल्लेख कर उसने कहा है कि मैंने अपना ग्रन्थ कौटिल्य के ग्रन्थ के आधार पर बनाया है। उसने यह भी कहा है—'श्रूयते हि किल चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगैश्चैकं नन्दं जघानेति।' इससे भी यह सिद्ध होता है कि कौटिल्य, विष्णुगुप्त और चाणक्य एक ही पुरुष हैं और उसी ने नन्दों को मारा। सोमदेव सूरि के ग्रन्थ में 'अर्थशास्त्र' के वाक्यों से मिलते जुलते अनेक वाक्य हैं।

मैगेस्थिनीज नामक एक ग्रीक दूत चन्द्रगुप्त के दरबार में था। उसने अपनी आँखों देखा यहाँ का बहुत सा वर्णन लिखा है। 'अर्थशास्त्र' में दिये बहुत से नियम उसके लेख में पाये जाते हैं।

अब हम 'अर्थशास्त्र' की लेखनशैली के विषय में कुछ कहेंगे। इस लेखक की शैली आपस्तम्ब, बौधायन और दूसरे सूत्रकारों जैसी ही है। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक का उल्लेख ऊपर हम कर चुके हैं। उसमें उसने कहा है कि मैंने स्वयं अपने सूत्र

और अपनी टीका दोनों बनायें। १५० अध्यायों के प्रत्येक के प्रारम्भ में उसने बहुत ही अर्थपूर्ण शब्दावलि रखी है। इन्हीं को कदाचित् कौटिल्य ने सूत्र कहा है और शेष अध्याय को उसकी टीका कही है। टीका और सूत्रों की शैली में बहुधा बहुत भेद नहीं है। बहुत बार तो शैली उपनिषदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों से मिलती-जुलती है। 'अर्थशास्त्र' के बहुत से शब्द अब व्यवहार में नहीं आते। पाणिनि के नियमों का भी उसने कई बार उल्लंघन किया है। कुछ शब्द उदाहरण के लिए नीचे दिये जाते हैं :—

(शब्द)	(अर्थ)
युक्त	सरकारी अधिकारी
उपयुक्त	दुय्यम अधिकारी
तत्पुरुष	नौकर
परिघ	कर
व्याजि	कर या महसूल
रूपिक	कर या महसूल
पारीक्षिक	सिक्कों पर एक तरह का महसूल
परोक्त	अपराध
निवेषकाल	पुनर्विवाह का काल
उच्छुल्क	निःशुल्क
औपनिषदिक	औपनिषत्क

सर्वज्ञख्यापन	सर्वज्ञत्वख्यापन
रोचयन्ते	रोचन्ते

इससे एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या कौटिल्य को पाणिनि के सूत्र मालूम न थे ?

कौटिल्य को सूत्रकार तथा निज का टीकाकार मान लें तो भी एक प्रश्न रह जाता है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में और किसी किसी के बीच में भी श्लोक दिये हैं। ये किसके बनाये हैं ? क्या वे कौटिल्य के बनाये हैं अथवा अन्य किसी के ? उनका छन्द बहुधा अनुष्टुप् है। कहीं कहीं पर इन्द्रवज्रा और उपजाति भी हैं, पर ये इने-गिने ही हैं। इस ग्रन्थ के कुछ श्लोक पञ्चतन्त्र, भास के नाटक और महाभारत में मिलते हैं। कह नहीं सकते कि इन्हें किसने किससे लिया। परन्तु यह बात सिद्ध होती है कि 'अर्थशास्त्र' जैसा छपा है, क़रीब क़रीब वैसा ही वह बना था और कौटिल्य ही उसका रचयिता है। कुछ विद्वानों ने मूल-लेखक के विषय में शंकायें उपस्थित की हैं। वे कहते हैं कि प्रतिकूल मतों का खण्डन करने के लिए जब कभी कौटिल्य का मत आया है तब तब इस शब्द का तृतीय पुरुष में उल्लेख हुआ है; उदाहरणार्थ 'यथापराधं इति कौटिल्यः'—'कौटिल्य का मत है कि जैसा अपराध हो वैसा दण्ड दिया जाय।' परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत के प्राचीन ग्रन्थकार अपना उल्लेख इसी प्रकार किया करते थे।

इस अत्यन्त कठिन ग्रन्थ को मूल तथा अनुवाद के रूप में छाप कर शामशास्त्री ने इतिहास-प्रेमियों पर, और विशेषकर, हिन्दुस्तान पर बहुत उपकार किये हैं। हमें उनका अत्यन्त कृतज्ञ होना चाहिए। हमने इस ग्रन्थ के उपयुक्त भागों का हिन्दी में तुलनात्मक विवेचन किया है। कभी यह तुलना पाश्चात्य ग्रन्थकारों से होगी तो कभी भारतीय ग्रन्थकारों से। यह सत्य है कि ग्रीस में अरस्तू बड़ा भारी विद्वान् लेखक हुआ और राज्य के विषय में सबसे प्राचीन तथा साथ ही वैज्ञानिक ग्रन्थ संसार में अब तक उसी का है। तथापि 'अर्थशास्त्र' के उद्धार से हम कह सकते हैं कि भारतीय लोग भी राज्य के अनेक अंगों और उपांगों का विचार करते थे।

—:o:—

5/7

अध्याय २

"अर्थशास्त्र" का सामान्य स्वरूप।

गत अध्याय में हमने कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के विषय में कुछ प्रास्ताविक बातें बतलाईं। उसमें पुस्तक के सामान्य स्वरूप का दिग्दर्शन न हो सका था। यह अब इस अध्याय में किया जाता है।

पुस्तक पढ़ने पर सबसे प्रथम हमें जो बात देख पड़ती है, वह यह है कि इसमें किसी आदर्श-समाज की कल्पना नहीं

की गई है। अरस्तू के ग्रंथ में भी सभी बातें कल्पना के आधार पर नहीं बतलाई गई हैं। उसने भी उस समय के समाज का आधार लिया है। तथापि उसने उसी को आदर्श बनाने का बहुत प्रयत्न किया है और राज्यप्रबन्ध का विचार तो क़रीब क़रीब आदर्शमूलक ही है। अफलातून ने तो सारे समाज की रचना ही कल्पना के आधार पर की है। मनुष्य के उच्चतम विकास के लिए आवश्यक समाज-रचना का उसने अपने "रिपब्लिक" नामक ग्रन्थ में विचार किया है। परन्तु कौटिल्य ने इसमें से कुछ न किया। सारा समाज ज्यों का त्यों है, किसी काल्पनिक समाज को, सामाजिक आदर्श को, उसने स्थान नहीं दिया। समाज का प्रकृतानुरूप वर्णन उसके ग्रन्थ में दिया गया है। उसमें जातिभेद का पूरा अस्तित्व देख पड़ता है। जो जो सामाजिक बन्धन उस समय प्रचलित थे वे सब यहाँ बने हैं। नीति के नियम किन्हीं आदर्शों पर स्थित नहीं, जो प्रचलित हुए वे मान लिये गये हैं। इतना ही नहीं, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, राजकीय विचार भी उस समय के प्रचलित विचार ही हैं, किसी आदर्श राज्यघटना की कल्पना उसने नहीं की है। उस समय बहुधा सारे राज्यों के शासक राजा होते थे और राज्यसूत्र आनुवंशिक चले जाते थे। उसने यह प्रश्न ही नहीं किया कि इस प्रथा से भी कोई अन्य प्रथा राज्यशासन की हो सकती है। लोकतंत्र, श्रेष्ठतंत्र, आदि अनेक तन्त्रों की और उनकी विविध रचनाओं की आज जो

कल्पनायें की जाती हैं, उनका उसके ग्रन्थ में पता तक नहीं है।

हाँ, तत्कालीन समाज और उसके विचारों को जैसे का तैसा बनाये रखकर उसका शासन करने के लिए कैसा राजा चाहिए, कैसे मन्त्री चाहिए, कैसे और कौन सरकारी नौकर चाहिए, उनके कर्तव्य और अधिकार क्या होने चाहिए, समाज के अनेक व्यवहारों के लिए कौन से नियम होने चाहिए, इत्यादि बातों का उसने अवश्य विचार किया है। इसीलिए उसने शास्त्रों के भेद और उनके उपयोगों का निश्चय करने पर यह विचार किया है कि राजा कैसा होना चाहिए। हाँ, राजा को उसने आदर्श बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है। इसके लिए उसने दिन-चर्या भी बतलाई है। इसी प्रकार मन्त्रियों की आवश्यकता बतलाने पर इस बात का विवेचन किया है कि वे कैसे होने चाहिए, उन्हें कैसे चुनना चाहिए और उनकी परीक्षा कैसे लेनी चाहिए। जिस किसी ने "मुद्राराक्षस" पढ़ा है उसे यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि कौटिल्य के ग्रन्थ में गुप्तचरों के विषय में यथेष्ट विचार किया है। गुप्तचर तो उसकी राज्यशासनप्रणाली के आधारस्तम्भ अथवा राजा के नेत्र ही हैं। पक्षविपक्ष (दलबन्दी) का विचार, राजपुत्रों की रक्षा, ग्राम-रचना, भूमि के भाग, दुर्गों का निर्माण, कर और लगान के नियम और वसूली, कर्मचारियों के कार्यों के नियम

इत्यादि बातें ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय अधिकरण में यानी प्रथम और द्वितीय भाग में दी हैं। द्वितीय अधिकरण में कर्मचारियों के कार्यों के नियमों में राज्यशासन के अनेक विभागों का भी वर्णन आया है। सुवर्णाध्यक्ष, कोष्ठागाराध्यक्ष, पण्याध्यक्ष १, कुप्याध्यक्ष २, आयुधागाराध्यक्ष, पौतवाध्यक्ष ३, शुल्काध्यक्ष ४, सूत्राध्यक्ष ५, सीताध्यक्ष ६, सुराध्यक्ष ७, सूनाध्यक्ष ८, गणिकाध्यक्ष९, नावध्यक्ष१०, गोऽध्यक्ष११, अश्वाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष१२, रथाध्यक्ष, पत्यध्यक्ष १३, सेनापति, मुद्राध्यक्ष १४, विवीताध्यक्ष १५, समाहर्ता१६, सन्निधाता १७०इत्यादि इत्यादि अनेक कर्मचारियों के कर्तव्यों और कार्यों के नियम द्वितीय अधिकरण में आये हैं। इन अनेक कर्मचारियों के कार्यों के इस प्रकार के विभाग से उस समय की राज्य-प्रबन्ध-प्रणाली का यथेष्ट पता लगता है।

---

१ व्यापार की देख-रेख का सर्वोच्च अधिकारी। २ जंगलविभाग का सर्वोच्च अधिकारी। ३ तोल और माप का सर्वोच्च अधिकारी। ४ चुंगी का सर्वोच्च अधिकारी। ५ वस्त्रों के तमाम कार्यों का सर्वोच्च अधिकारी। ६ खेती का सर्वोच्च अधिकारी। ७ आबकारी का सर्वोच्च अधिकारी। ८ कसाई-खानों का सर्वोच्च अधिकारी। ९ गणिकाओं का सर्वोच्च अधिकारी। १० नावों का सर्वोच्च अधिकारी। ११ ढोरों का सर्वोच्च अधिकारी। १२ हाथियों का सर्वोच्च अधिकारी। १३ पैदल सेना का सर्वोच्च अधिकारी। १४ देश में आने अथवा बाहर जाने की आज्ञा देनेवाला सर्वोच्च अधिकारी। १५ गोचर का सर्वोच्च अधिकारी। १६ लगान वसूल करनेवाला अधिकारी। १७ इसका अर्थ खज़ानची होता है।

तृतीय अधिकरण में तमाम तरह के क़ानूनों का विवेचन है और उसका नाम "धर्मस्थीय" है। करार के बन्धन, विवाह, विवाह का अर्थ, स्त्रीधन, पुरुषों का द्वितीय विवाह, स्त्री के कर्तव्य, स्त्री का पालन-पोषण, स्त्रियों के साथ क्रूर व्यवहार, पतिपत्नी के कलह, पत्नी का अनुचित व्यवहार, जायदाद, इमारतें, गोचर, खेत, सड़कें, ऋण, रहन, दास और मज़दूर, क्रय-विक्रय, दान, डकैती, बदनामी, मारपीट, जुवा आदि के नियम इसमें आये हैं। आज-कल के राज्यविज्ञान में बहुधा ये बातें नहीं पाई जातीं। चतुर्थ अधिकरण का नाम 'कण्टक-शोधन' है। राष्ट्र और उसकी जनता की 'कण्टकों' से रक्षा कैसे करनी चाहिए इसका इसमें विचार है। कारीगर और व्यापारी की रक्षा, राष्ट्रीय आपत्तियों से बचने के उपाय, दुष्कर्मी तरुणों का पता लगाना, आकस्मिक मृत्यु के कारणों की खोज, नाना सरकारी विभागों की रक्षा, लड़कियों के साथ संभोग-व्यवहार, न्याय के उल्लंघन का दण्ड आदि बातें इसमें आई हैं। वास्तव में तत्त्व की दृष्टि से तीसरे और चौथे भागों का विषय एक ही है यानी नाना प्रकार के क़ानून।

पाँचवें अधिकरण का नाम योगवृत्त है। पहले अध्याय में दण्डविधान की बातें बतलाई हैं। तथापि इसके नियम बहुधा मंत्रियों से ही सम्बन्ध रखते हैं। दूसरे अध्याय में इस बात का विचार किया है कि ख़ज़ाने को कैसे भरना चाहिए।

तीसरे में सरकारी कर्मचारियों के पारिश्रमिक का विचार हुआ है। चौथे और पाँचवें में मंत्रियों के चालचलन की बात आई है। और छठे में यह बतलाया है कि राज्यसत्ता और राज्य को किस प्रकार मज़बूत बनाना चाहिए।

छठे अधिकरण का नाम "मण्डलयोनि" है। इसमें दो ही अध्याय हैं। पहले में 'प्रकृति' यानी राजैश्वर्य के लक्षणों का विचार है और दूसरे में शान्ति और विग्रह के समय के राज्यों के कुछ सम्बन्धों का उल्लेख है।

सातवें अध्याय में 'षाड्गुण्य' यानी छः प्रकार की नीति का विवेचन है। सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय, और द्वैधीभाव इस 'षड्गुण' के भेद हैं। संधि और विग्रह का अर्थ सब लोगों पर प्रकट ही है। आसन का अर्थ तटस्थता कर सकते हैं। दो लड़नेवाले राष्ट्रों में से किसी भी पक्ष में न शामिल होनेवाले राष्ट्र की इस दशा का नाम आसन है। यान का अर्थ है लड़ने को तैयार होना। दूसरे का आश्रय लेने को संश्रय कहा है। और एक से संधि और दूसरे से विग्रह करने को द्वैधी-भाव कहा है। इसी भाग में वास्तव में इस बात का सविस्तर विवेचन आया है कि संधि और विग्रह के समय तथा लड़ाई के समय राज्यों का क्या सम्बन्ध होना चाहिए। बहिर्देशीय नीति का भी इसमें विचार हो चुका है।

आठवें अधिकरण का नाम 'व्यसनाधिकारिक' है। इसमें

राज्य, राजा, राज्यैश्वर्य, जनता और सेना पर आनेवाली आपत्तियों का तथा उनके उपायों का विवेचन आया है।

नवें अधिकरण में 'अभियास्यत्' यानी आक्रमणकारी के कर्म दिये हैं। परन्तु इसमें संधि और विग्रह के तथा लड़ाई के भी अनेक नियम आये हैं। दसवें में 'संग्राम' की चर्चा की है। यानी इसमें प्रत्यक्ष यह बतलाया है कि लड़ाई कैसे लड़नी चाहिए। ग्यारहवें में 'संघवृत्त' यानी नाना तरह के समाज-संघटनों का विचार है। यह स्वाभाविक ही है कि उसमें केवल उसी समय के और इसी देश के समाज-संघटनों का उल्लेख है। बारहवें अधिकरण में बली शत्रु का विचार किया है और उस को गिराने के नाना तरह के उपाय बतलाये हैं। तेरहवें में दुर्गों पर आक्रमण करके जीतने के उपाय बतलाये हैं। कभी कभी गुप्त उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है, अन्यथा राज्य की रक्षा नहीं हो सकती। इसका विवेचन चौदहवें अधिकरण में है। अन्तिम यानी पन्द्रहवें अधिकरण में इस ग्रन्थ की विषय-योजना का उल्लेख है। इस प्रकार यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

ग्रंथ के इस सूक्ष्म दिग्दर्शन से इस बात का पता लग सकता है कि इस ग्रंथ में कई ऐसी बातें आई हैं जो बहुधा आज-कल की इस विषय की पुस्तकों में नहीं आतीं। क़ायदे के नियमों का तथा दण्डविधान का उल्लेख आज-कल के राज्यविज्ञान में नहीं रहता। यह विषय नितांत स्वतन्त्र है

और वह क़ानून की पुस्तकों में दिया रहता है। लड़ाई कैसे लड़नी चाहिए इसके भी नियम आज-कल के राज्य-विज्ञान में न मिलेंगे। ये संग्राम-शास्त्र में पाये जावेंगे। इस ग्रंथ में बहुत सी बातें ऐसी हैं जो आज-कल नाना विभागों के 'मैनुअलों' अथवा 'कोडों' में मिलेंगी। इसमें संपत्तिशास्त्र के भी नियमों का कुछ विवेचन है। राज्य-विज्ञान का सम्पत्ति-शास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है और पहले में दूसरे का कुछ विवेचन रहता भी है, परन्तु वह सारा तात्त्विक रहता है और केवल राज्य के तत्त्वों से सम्बन्ध रखनेवाले तत्त्वों का ही। इसके विपरीत कई बातें इस ग्रंथ में नहीं हैं जो आज-कल के ग्रन्थों में पाई जाती हैं। यह हम ऊपर बतला ही चुके हैं कि आदर्श राज्य का इसमें नाम को भी विचार नहीं है। राज्य का शासन यानी पूर्ण एकतंत्र इसमें स्वयंसिद्ध मान्य बात है। सारांश, एक राज्य के लिए जिस राज्य-संगठन की, जिस क़ायदे की, जिन जिन छोटे और बड़े अधिकारियों और कर्मचारियों की, उनके जिन अधिकारों और कर्तव्यों की, शासन चलाने के लिए जिन छोटे से छोटे और बड़े से बड़े नियमों की, छोटे और बड़े अधिकारियों के जिस नीति की, आवश्यकता होती है, वह सब इसमें है। कौटिल्य की मंशा थी कि इस पुस्तक के आधार पर किसी राज्य का सारा का सारा काम चलाया जा सके। फिर, नये क़ानून और क़ायदे की, नियम और नियमन की,

आज्ञाओं और सूचनाओं की, नाममात्र को आवश्यकता न रह जावे। इस रीति से देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य ने वास्तव में 'गागर में सागर' भरने का प्रयत्न किया है। आजकल के किसी भी देश की राज्यव्यवस्था और उसके शासन का साहित्य उठाया जाय तो उनके नाम भी किसी को याद न रहें—फिर उनके मज़मून को जानने की बात ही कहाँ ? आजकल नित्य इतने क़ानून और क़ायदे, नियम और नियमन, आज्ञाओं और सूचनाओं की, क़ानून-सभा से लेकर छोटे से छोटे अधिकारी के द्वारा, सृष्टि होती है कि कुछ कह नहीं सकते। उनका पूर्ण संग्रह कहीं भी न देख पड़ेगा। फिर, उनके नाम जानना, उनका मज़मून पढ़ना, उन बातों को याद रखना और समझना कठिन ही नहीं तो असंभव बात है। जो बातें सर्वसामान्य व्यवहार की होती हैं वे भी तो कोई नहीं जानते क्योंकि वे ही अत्यधिक हैं। अलग अलग काम के लिए अलग अलग पुरुष नियत हैं, और बहुत होगया तो वे ही अपने कार्यों के नियमों को जान सकते हैं। अन्यथा, क़ायदों और नियमों की पुस्तकें, अथवा लिखित काग़ज़-पत्र देखकर उन नियमों को जान लेते हैं। परन्तु इस पुस्तक में इतनी अधिक बातें आई हैं कि वास्तव में किसी भी शासक को उसके पढ़ने की अत्यंत आवश्यकता है। राज्यशासनोपयोगी पुस्तकों में ऐसी कचित् ही पुस्तक किसी भी देश और काल में रही

होगी जो इस तरह उपयोगी पड़ सकी हो। तात्पर्य यह कि उस समय के राज्य के सारे कार्यों के नियमों का यथासंभव परिपूर्ण संग्रह इसमें है। यही इसका सामान्य स्वरूप है।

—०—

भाग दूसरा

राज्यशासन-व्यवस्था

अध्याय ३

राजा और अमात्य

कौटिल्य के ग्रंथ का सामान्य स्वरूप जान लेने पर अब हम उसके विचारों का दिग्दर्शन कर सकते हैं। सर्वप्रथम कौटिल्य ने सब शास्त्रों के चार वर्ग-भेद किये हैं। वे ये हैं (१) आन्वीक्षकी, (२) त्रयी, (३) वार्ता और (४) दण्डनीति। सांख्य, योग और लोकायत* मिलकर आन्वीक्षकी होती है। त्रयी† (तीन वेदों) से धर्म और अधर्म का ज्ञान होता है।

---

* शामशास्त्रीजी ने इस शब्द का संभाव्य अर्थ नास्तिकवाद दिया है।

† त्रयी से ऋक्, साम और यजुः इन्हीं तीन वेदों का इस ग्रंथ में उल्लेख है। जान पड़ता है कि इस समय तक अथर्ववेद को वह मान न मिला था जो और तीन वेदों को मिल चुका था। इससे यह अनुमान निकलता है कि अथर्ववेद कौटिल्य के बहुत पहले न बना था। तथापि वह इतने पहले अवश्य बना था कि वह उस समय तक यथेष्ट मान प्राप्त कर सका। नवें अधिकरण के अन्तिम श्लोक में अथर्ववेद का उल्लेख है—

असृष्टिरतिसृष्टिर्वा सृष्टिर्वा याऽऽसुरी भवेत्।
तस्यामथर्वाणं कर्म सिद्धारम्भाश्च सिद्धयः॥

'अर्थ' क्या है और 'अनर्थ' क्या है, यानी सम्पत्ति किसे कहते हैं और वह कैसे प्राप्त होती है, इसका ज्ञान वार्ता से होता है। वैश्य के धंधे 'कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य' इसमें शामिल हैं। 'नय' किसे कहते हैं और 'अनय' किसे कहते हैं, 'बल' किसे कहते हैं और 'अबल' किसे कहते हैं इस बात का ज्ञान दण्डनीति से होता है।

आगे चलकर कौटिल्य ने इन चार विद्याओं के उद्देशों का विचार किया है। प्रथम तीन विद्याओं से हमें यहाँ कुछ विशेष वास्ता नहीं है। दण्डनीति के सम्बन्ध में उसने कहा है कि आन्वीक्षकी, त्रयी और वार्ता के उद्देशों की पूर्ति के लिए 'दण्ड' अत्यन्त आवश्यक है। और दण्ड के उपयोग के नियमों का जिसमें विवेचन रहता है, वह दण्डनीति है। इससे स्पष्ट है कि समाज और व्यक्ति की ऐहिक और पारलौकिक उन्नति के लिए 'दण्ड' की अत्यन्त आवश्यकता है। वह कहता है, "उचित विचार के बाद दण्ड दिया जाय तो लोग धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत्त होते हैं"। उसने अपने आचार्य का भी मत दिया है कि "जिस किसी को संसार की उन्नति वाञ्छनीय है, उसे चाहिए कि वह 'दण्ड' को सदैव 'उठाये' रखे। लोगों को वश में लाने के लिए

यहाँ अथर्ववेद के बताये कर्म करने को कहा है। इससे स्पष्ट है कि इस समय तक अथर्ववेद यथेष्ट मान्यता प्राप्त कर चुका था। येही अनुमान विद्वान् लोग दूसरे आधारों से निकालते हैं।

'दण्ड' से दूसरा अच्छा साधन नहीं।" फिर आगे कौटिल्य ने कहा है, "दण्ड के नियमों का जब उपयोग नहीं होता, तब लोगों में 'मत्स्यन्याय' ज़ोर पकड़ता है। क्योंकि दण्डधारी के बिना सबल निर्बल को खा जाते हैं, परन्तु उसका ज़ोर मिलने पर निर्बल सबल का सामना कर सकते हैं।" यह स्पष्ट ही है कि यदि दण्ड का भय न रहे तो समुद्र में जिस प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं, उसी प्रकार सबल लोग निर्बलों की दुर्दशा करेंगे।

'दण्डनीति' या, आजकल के शब्द में, 'राज्य-विज्ञान' का विचार करने से पहले इस शास्त्र के उद्देशों का जो विचार किया है, वह बहुत स्वाभाविक है। अरस्तू का नामोल्लेख हम पहले कर ही चुके हैं। इसने तो सबसे प्रथम 'राज्य' के उद्देश का ही विचार किया है। वह कहता है, "राज्य लोगों का एक प्रकार का समाज है, और प्रत्येक समाज कुछ हित-साधन के लिए बनता है क्योंकि प्रत्येक कार्य का उद्देश कुछ हित-साधन ही रहता है। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक समाज का उद्देश कुछ हित-साधन ही होता है। 'राज्य यानी राजकीय समाज' सबसे श्रेष्ठ समाज है और उसमें शेष सब समाज शामिल हैं, इसलिए सबसे श्रेष्ठ हित का साधन 'राज्य' का उद्देश होना चाहिए।" इसी विषय का और एक स्थान में उसने विचार किया है। वह कहता है, "राज्य यद्यपि (पहले पहल) मनुष्य-जीवन

की सम्भावना के लिए बना, तथापि वह मनुष्यजीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिए ही (अब तक) बना हुआ है।...... राज्य में ही सब तरह के समाज पूर्णतः विकसित होते हैं।" इसी विचार को आगे बढ़ा कर उसने कहा है कि 'राज्य एक स्वाभाविक समाज है और मनुष्य स्वभावतः राजकीय प्राणी है।'

इसी प्रकार आधुनिक राज्यविज्ञानी भी राज्य के उद्देशों का विचार करते हैं। हाब्स जैसे विवेचकों ने तो स्पष्ट कहा है कि मनुष्य के मनोविकारों के कारण ही राज्य की आवश्यकता हुई। बिलकुल आधुनिक राज्यविज्ञानी राज्य की उत्पत्ति स्वाभाविक मानते हैं। तथापि वे राज्य के उद्देशों का विचार करते समय यही कहते हैं कि समाज और व्यक्ति का सर्वदृष्टि से विकास होना ही उसका ध्येय होना चाहिए। एक रीति से देखा जाय तो कौटिल्य के विवेचन में ये दोनों तत्त्व भी रखे देख पड़ेंगे। राज्य के बिना मनुष्य-जीवन की सम्भावना ही नहीं है। मनुष्य-जीवन है तो राज्य भी है, यानी मनुष्य के साथ साथ उसकी भी उत्पत्ति स्वाभाविक है। और 'धर्म, अर्थ और काम' का साधन उसका अन्तिम उद्देश है। हिन्दू लोग जानते हैं कि 'धर्म, अर्थ और काम' में समस्त ऐहिक और बहुतेरी पारलौकिक इच्छाओं का समावेश होता है। यह बात ध्यान में रखने लायक है कि केवल 'अर्थ' और 'काम' ही उसके उद्देश नहीं, 'धर्म' भी उसके उद्देशों में

शामिल है। आज-कल के विवेचन में कई लोग 'अर्थ' और 'काम' को ही सब कुछ समझते हैं, 'धर्म' को बहुधा वे कोई स्थान नहीं देते। यदि देते भी हैं तो उसका विचार नैतिक विकास की दृष्टि से करते हैं। परन्तु इस भेद से हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। कौटिल्य हिन्दू है, इस कारण वह हिन्दुओं के आदर्शों को भूल नहीं सकता। प्रत्येक लेखक के विचारों पर देश और काल की गहरी छाया पड़ी रहती है।

दण्ड-नीति के उद्देशों का विचार करने पर कौटिल्य ने राजा के सम्बन्ध में विचार किया है। हम पहले ही कह चुके हैं कि इस लेखक ने राज्य या राज्यशासन के स्वरूप का शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है। 'स्वामी (राजा), अमात्य, जनपद (भूमि), दुर्ग, कोश, दण्ड (सेना) और मित्र ये राज्य की सात प्रकृतियाँ यानी अंग हैं अर्थात् ये सात अंग राज्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। उसने यह मान ही लिया है कि राज्य का सर्वोच्च शासक राजा होना चाहिए और सब मंत्री या सचिव या दूसरे अधिकारी उसके नौकर होने चाहिए। उसने यह भी मान लिया है कि जिस समाज का विचार हो रहा है, वहाँ चतुर्वर्ण और चतुराश्रम-व्यवस्था पहले से बनी है और वह बनी रहनी चाहिए। उसका सारा विवेचन इसी नींव पर रचा गया है। "ब्राह्मण का धर्म अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह (दान का स्वीकार) है। क्षत्रिय का धर्म अध्ययन, यजन, दान,

शस्त्राजीव (सैनिक जीवन) और भूतरक्षण है। वैश्य का धर्म अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य है। शूद्र का धर्म द्विजाति-शुश्रूषा (यानी पहली तीन जातियों की सेवा), कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, कारीगरी और राज्य-दरबार के भाट का धंधा है। अपने ही 'धर्म' के अनुसार जीविका करना, भिन्न भिन्न प्राचीन ऋषियों की अपने समान सन्तति से विवाह करना, मासिक-धर्म के बाद अपनी पत्नी से समागम करना, देव-पितर-अतिथि-भृत्यों को 'त्याग' यानी द्रव्य के दान-द्वारा संतुष्ट करना, और बचा हुआ खाना, ये गृहस्थ के कर्म हैं। वेदाध्ययन, अग्निकार्य (हवन), अभिषेक (पूजा), भिक्षा-व्रत, गुरु या गुरु के अभाव में उसके पुत्र या अपने से बड़े ब्रह्मचारी के लिए आवश्यकता पड़ने पर प्राण तक दे देने की भक्ति, ब्रह्मचारी के कर्म हैं। वानप्रस्थ का कर्म है कि वह ब्रह्म-चर्य से रहे, भूमि पर सोवे, जटा धारण करे, हरिणचर्म पहने, अग्निहोत्र और अभिषेक करे, देवता-पितर-अतिथि की पूजा करे, और वन्य भोजन खावे। परिव्राजक (संन्यासी) का कर्म है कि अपनी इन्द्रियों को वह पूर्णतः वश में रखे, कोई नये नये काम न करे, अपने पास द्रव्य न रखे, निःसंग रहे, कई स्थानों में भिक्षा माँगा करे, अरण्य में रहे और भीतर-बाहर शुचि रहे। अहिंसा, सत्य, शुचिता, असूयाहीनता, अक्रूरता, और क्षमा सब ही लोगों के कर्त्तव्य हैं। स्वधर्म से मनुष्य स्वर्ग और परम दशा (अनन्त्य) को प्राप्त करता है।

स्वधर्म के उल्लंघन से और जातिसंकर (और धर्म की गड़बड़) से संसार नष्ट हो जावेगा। इसलिए राजा अपने लोगों को अपने धर्म से च्युत न होने दे। जो कोई आर्यों की परम्परा के अनुसार अपना कर्म करता रहेगा और जाति और आश्रम के नियमों का पालन करेगा, वह इस लोक में और परलोक में निश्चय-पूर्वक सुखी होगा। क्योंकि, त्रयी (यानी ऋक्-साम-यजुः तीनों वेदों) के अनुसार लोक (यानी संसार) की रक्षा करने से संसार रहेगा, और नष्ट न होगा।''

इस लम्बे उद्धरण से हमारे कथन की सत्यता पूरी पूरी जँच जावेगी। इतना ही नहीं, ऊपर के उद्धरण के अन्तिम वाक्य से यह भी देख पड़ेगा कि कौटिल्य का मत था कि वर्णाश्रम-व्यवस्था वेदकाल से चली आती है, यानी वह अनादि काल से है और अनन्त काल तक बनी रहनी चाहिए। आगे चलकर इससे यह अनुमान निकल सकता है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था-हीन समाज की कल्पना कौटिल्य न कर सकता था। इस दृष्टि से कौटिल्य का विचारक्षेत्र बड़ा ही संकुचित देख पड़ता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कोई भी समाज-व्यवस्था अनादि और अनन्त नहीं हो सकती—उसका प्रारम्भ है और अन्त भी है।

राज्य-शासन के स्वरूप का प्रश्न उपस्थित ही न होने के कारण उसने केवल राजा के विषय में विचार किया है। उसने कहा है कि 'दण्ड' 'विनय' पर अवलम्बित है। 'विनय'

(शिष्टि या अनुशासन) दो प्रकार का है, एक कृत्रिम और दूसरा स्वाभाविक ।......जिनमें शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण (समझ), धारणा (स्मरणशक्ति), विज्ञान (उचितानुचित समझने की शक्ति), अनुमान और विचार आदि गुण हैं, उनको ही विद्या से लाभ हो सकता है, दूसरों को नहीं। इसलिए आचार्यों से राजपुत्र को विद्या पढ़नी चाहिए और उनके नियमों का पूर्णतः पालन करना चाहिए ।...(वह) शिष्टों से त्रयी और आन्वीक्षकी पढ़े, (नाना विभागों के) अध्यक्षों से वार्ता पढ़े और वक्तृ-प्रयोक्तृ-पुरुषों से (सिद्धान्त और व्यवहार जाननेवालों से) दण्डनीति पढ़े । सोलह वर्ष तक राजपुत्र ब्रह्मचर्य से रहे, फिर गोदान करने पर विवाह करे । कौटिल्य ने बतलाया है कि फिर वह विद्या और विनय से परिपूर्ण वृद्ध लोगों के साथ रहा करे ताकि उसमें भी इन गुणों का विकास हो । विद्या और विनय की प्राप्ति के लिए उसने राजपुत्र के लिए दिनचर्या भी बतलाई है । उसमें राजा को आवश्यक सब विद्या-कला और अन्य गुणों का समावेश है । सारांश में हम बतला देते हैं कि वह राजा, हाथी, घोड़े, रथ और शस्त्र की विद्या तथा इतिहास*, आदि पढ़े और आत्मसंयमन करे । इनके बिना कोई भी अच्छा राजा नहीं हो,

---

*इतिहास में पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र शामिल हैं ।

सकता। उसने राजा के आत्मसंयमन पर बड़ा ज़ोर दिया है और इसके लिए अनेक उदाहरण भी दिये हैं। सारांश में हम उसका मत उसके एक श्लोक में बतला देते हैं :—

विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः।
अनन्यां पृथिवीं भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः॥

फिर उसने अमात्यों का विचार किया है। अमात्यों की आवश्यकता बतलाते हुए उसने कहा है कि—

सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम्॥

"राजत्व सहायता के बिना नहीं चल सकता। (क्योंकि) अकेला चक्र चल नहीं सकता। इसलिए सचिव रखने चाहिए और उनका कहना सुनना मानना चाहिए।" फिर प्रश्न उपस्थित होता है, अमात्य किस प्रकार के चाहिए ? अनेक आचार्यों का मत देने पर उसने बहुदन्ती का मत दिया है। 'उच्च-कुलोत्पन्न, प्रज्ञावान्, शुचि, शूर और अनुरागयुक्त (स्वामिभक्त और स्वदेशभक्त) पुरुषों को राजा अमात्य बनावे। अमात्यपद गुणप्राधान्य यानी योग्यता के अनुसार देना चाहिए'। इस पर कौटिल्य कहता है कि "यही ठीक है, क्योंकि कार्य-सामर्थ्य (काम करने की योग्यता) पुरुषसामर्थ्य (पुरुष की योग्यता) पर अवलम्बित है। उनके अधिकार-क्षेत्र का विभाजन करके और देश, काल और कार्य का विचार रखकर ऐसे (यानी अभी बतलाये गुणों से युक्त) पुरुषों की अमात्य-पद पर योजना

करनी चाहिए, मन्त्रिपद पर नहीं'। इस वाक्य का अन्तिम चरण ध्यान में रखने लायक है। उसने 'अमात्य' और 'मन्त्री' में भेद किया है और यह भेद वैसा ही है जैसा मिनिस्टर और कौन्सिलर के वास्तविक अर्थ में है। मिनिस्टर और अमात्य वास्तव में कर्मचारी हैं। कौन्सिलर और मन्त्री वास्तव में मन्त्र यानी सलाह देनेवाले पुरुष हैं। आजकल अँगरेज़ो के मिनिस्टर और कौन्सिलर में कोई भेद नहीं रह गया है। इँग्लैंड के राज्यशासन में सब सर्वोच्च पदाधिकारी मिनिस्टर ही कहलाते हैं। परन्तु यदि सूक्ष्म रीति से देखा जाय तो उनमें से कुछ तो नाम-मात्र के लिए मिनिस्टर यानी कर्मचारी हैं, वास्तव में वे कौन्सिलर यानी मन्त्री हैं, वे केवल सलाह देते हैं और उनकी सलाह के अनुसार काम होता है। प्रधान मन्त्री अँगरेज़ी में लौकिक रीति से प्रीमियर या प्राइम मिनिस्टर कहलाता है, प्राइम कौन्सिलर नहीं। परन्तु कार्य वास्तव में 'प्राइम कौन्सि-लर' यानी 'प्रधान मन्त्री' का करता है। उसकी ही सलाह से राज्य के बहुधा सब काम चलते हैं, वही राज्य की नीति का 'सिरजनहारा' होता है। हाँ, नाम-मात्र के लिए क़ायदे की दृष्टि से वह बहुधा 'ख़ज़ाने का प्रथम प्रधान (फर्स्ट लार्ड आव् दि ट्रेज़री)' होता है, परन्तु सारा कार्य दूसरे ही सचिव करते हैं। सलाह देने का, नीति निश्चित करने का, राज्यशासन की साधारण देख-रेख करने का, काम बड़े राज्यों में इतना अधिक रहता है कि अमात्य और मन्त्री में कौटिल्य ने जो

भेद किया है उसकी आवश्यकता वास्तव में उत्पन्न होती है। ऊपर दिया गया इँग्लेंड का उदाहरण इस बात की गवाही देता है। पहले-पहल इँग्लेंड में मन्त्री यानी कौन्सिलर (सलाह देनेवाले) दीख पड़ते थे, परन्तु वे कर्मचारी नाम को न थे। धीरे धीरे सलाह देनेवाले एक ओर रह गये और कर्मचारी सलाह का भी काम करने लगे। अभी तक किसी न किसी रूप में बनी हुई प्रिवी कौन्सिल इस बात का उदाहरण है। फिर इन नये सचिवों का काम इतना बढ़ गया कि वे अपना काम तो न कर सकें, केवल सलाह-मसलहत देसके, और इस कारण इँग्लेंड में आज-कल बहुत से मिनिस्टर (सचिव या अमात्य) वास्तव में मन्त्री का (सलाह देने का) काम करते हैं। वे नाम-मात्र के कर्मचारी हैं, परन्तु वास्तव में कौटिल्य के अर्थ से मन्त्री हैं। सारांश, प्रत्येक राज्य में सब कर्मचारियों के ऊपर मंत्रियों के रहने की आवश्यकता है। कौटिल्य इस बात में आधुनिक राजकारण और राज्य-विज्ञान से आगे बढ़ा देख पड़ता है। इसी बात का उल्लेख आगे विभागों के कर्तव्य और अधिकारों के वर्णन में आया है। यदि अमात्य और मंत्री में भेद है तो प्रश्न यह है, मंत्री किस प्रकार का होना चाहिए? मंत्री के गुण बतलाते हुए उसने एक भूल कर डाली है, मंत्री के स्थान में 'अमात्य' शब्द का उपयोग किया है। परन्तु अध्याय का नाम देखकर और अमात्य और मंत्री के भेद को ध्यान में रखते हुए यही कहना पड़ता है कि उसने

अब की बार मंत्री के, न कि अमात्य के, गुण बतलाये हैं। मंत्री "स्वदेशजन्मा (यानी उसी राज्य में जन्म पाया हुआ) उच्चकुलोत्पन्न, आत्मसंयमी, अनेक कलाओं में निपुण, दूरदर्शी, प्रज्ञावान्, स्मरणशक्तिमान्, दक्ष, अच्छा वक्ता, प्रगल्भ, बुद्धिमान्, उत्साह-प्रभावयुक्त, क्लेश सहनेवाला, सच्चरित्र, मिलनसार, स्वामिभक्त, शील-बल-आरोग्य-शौर्ययुक्त, दीर्घसूत्रता के दोष से दूर, बिना चञ्चल मन का, सबको प्रिय और वैरी उत्पन्न न करनेवाला" होना चाहिए। गुणों की सूची देखने से भी यही प्रतीत होता है कि मंत्री अमात्य से अधिक उच्च अधिकारी है और उसका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। मंत्री कितने रहें, इसके विषय में स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है। कौटिल्य ने अनेकों के अनेक मत देने पर अपना यह मत दिया है कि राज्य में जितने मंत्रियों की आवश्यकता रहे उतने मंत्रो रहें। फिर दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है, इन मंत्रियों से अलग अलग सलाह की जाय या एकत्र सलाह की जाय। इस विषय में भी उसने अनेक मत उद्धृत किये हैं और अन्त में बतलाया है कि न तो अकेले मंत्री से मंत्र करना चाहिए, न सारे मंत्रियों से ही—तीन या चार मंत्रियों से सलाह करना अच्छा होता है। इसके अनेक लाभ बतलाये हैं। एक ही मंत्री से सलाह लेने से केवल उसी की सलाह मिलेगी और वह अपना ही मत लादने का प्रयत्न करेगा। दो मंत्रो शायद आपस में मिल जावें यह डर रहता है। इसलिए तीन या चार

मंत्रियों से उचित सलाह मिलने की संभावना है। अनेक मंत्रियों से मंत्र करने से उस मंत्र के गुप्त रहने की संभावना कम रहती है और 'अन्यलक्षितकार्यस्य यतः सिद्धिर्न जायते'—बात दूसरों पर प्रकट होने से उसकी सिद्धि नहीं होती। परन्तु कौटिल्य इस बात को भी मानता है कि राजा (कभी कभी) अकेले मंत्रियों से उनके मत पूछे और उनके मत के कारणों को जानने का प्रयत्न करे। केवल तीनचार मंत्रियों से * सलाह करने का एक भारी कारण और है। अधिक लोगों के बीच किसी विषय का निर्णय जल्द नहीं होता, निष्कारण समय जाता है। थोड़े लोगों में यह बात जल्द सिद्ध होती है। हिन्दुस्थानियों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि धर्म की रक्षा राज्य का ही काम था और इस विषय में सलाह देने के लिए एक राजपुरोहित रहता था। परन्तु यह कर्मचारी, वास्तव में, मंत्री, इसी देश में ही नहीं, प्रत्युत सारे प्राचीन देशों में रहा है और कई देशों में अब तक धर्म-विभाग राज्य-शासन का एक भाग है। यहाँ तक कि हिन्दू-मुसलमानों के हिन्दुस्थान में अँगरेज़ी अमल में ख्रीष्टधर्मीय विभाग (एक्लीज़िएस्टिकल डिपार्टमेण्ट) अब तक बना है!

अमात्य कर्मचारी तो थे अवश्य, परन्तु बहुधा प्रत्येक

* ऐसा जान पड़ता है कि मंत्रियों के सिवा कभी कभी सलाह देनेवाले यानी राज-दरबारी और भी थे और वे 'मंत्रिपरिषद्' के सदस्य थे।

विभाग का मुख्य कर्मचारी 'अध्यक्ष' कहलाता था। इनको आज-कल की भाषा में सुपरिन्टेन्डेण्ट या डायरेक्टर या इन्सपेक्टर जेनरल कह सकते हैं। श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्यकृत और श्रीमाधवराव सप्रे द्वारा अनुवादित 'महाभारत-मीमांसा' के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्री, अमात्य और अध्यक्ष की परम्परा बहुत प्राचीन थी, क्योंकि वह महाभारत में भी देख पड़ती है। फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि अमात्यों का स्पष्ट भेद कहीं नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि शास्त्रीय रीति से मंत्री और अमात्य में भेद रहते हुए भी व्यवहार में यह भेद बहुत कम माना जाता था। कभी कभी जिन्हें वास्तव में 'अध्यक्ष' कहना चाहिए, वे व्यवहार में अमात्य कहलाते रहे होंगे और सूक्ष्म रीति से देखा जाय तो दो ही भेद उत्पन्न होते हैं, तीसरा नहीं। एक तरह के पुरुष मंत्री कहला सकते हैं तो दूसरी तरह के अध्यक्ष या मुख्य कर्मचारी। अमात्यवाला भेद नहीं देख पड़ता। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि केवल कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के सहारे इस बात पर स्पष्ट सम्मति देना या अधिक लिखना संभव नहीं है। हाँ, जैसा अभी बतला चुके हैं, अध्यक्ष बहुधा प्रत्येक विभाग का सर्वोच्च कर्मचारी था। कौटिल्य ने शासन-कार्यों के इतने भेद किये हैं कि कुछ कह नहीं सकते। प्रत्येक कार्य का एक अलग विभाग बनाया गया है और उसका एक स्वतंत्र 'अध्यक्ष' है। आज-कल हिन्दुस्थान में अनेक विभाग

एक मंत्री के हाथ में रखने की प्रथा है। इँग्लैंड में यद्यपि अनेक मंत्री हैं और वे बहुधा एक एक विभाग के मुखिया या 'अध्यक्ष' हैं तो भी उन सब पर, पहले बतलाये अनुसार, कुछ ऐसे मंत्री हैं जो वास्तव में केवल मंत्र यानी सलाह देने का काम करते हैं। कौटिल्य के बतलाये विभागों का वर्गीकरण हो सकता था और राज्य-शासन के कार्यों का उत्तरदायित्व आधुनिक रीति के अनुसार बाँटा जा सकता था—मंत्री या अमात्य इन विभागों की नीति के लिए उत्तर-दायी बनाये जा सकते थे। परन्तु यह बात कौटिल्य के विवे-चन में नहीं देख पड़ती, तथापि व्यवहार में ऐसी योजना आये बिना न रही होगी*। क्योंकि राज्य प्राचीन रहें या अर्वाचीन रहें, सारे राज्य की नीति एक सी रहने के लिए, राज्य के एक विभाग का दूसरे विभाग से विरोध न होने पावे इसके लिए, कुछ मुख्य मुख्य मंत्रियों के एक मण्डल की और उन पर एक सर्व-प्रधान मंत्री की अत्यन्त आवश्यकता है। कौटिल्य ने सब अध्यक्षों को भले ही अलग अलग कर दिया हो, परन्तु राज्य की नीति निश्चित करते समय मुख्य मंत्रियों का अधिकार उन पर चले सिवा न रहा होगा। कौटिल्य के बताये विभागों का वर्गीकरण किया जाय और आज-कल की भाषा का उपयोग

---

* और एक स्थान के एक वाक्य से यही जान पड़ता है। दूसरे अधिकरण के सातवें अध्याय में कहा है कि सब महामात्रों को अपने अपने विभागों का हिसाब जानना चाहिए।

किया जाय तो कुछ को राजकीय, कुछ को साम्पत्तिक, कुछ को लोक-रक्षा-सम्बन्धी, कुछ को विलास-सामग्री-सम्बन्धी, कुछ को जनसुविधा-सम्बन्धी तो कुछ को लोकाधिकार-रक्षा-सम्बन्धी कह सकते हैं। इनमें से बहुतेरों के नाम हम पूर्व अध्याय में बतला चुके हैं, इसलिए अब हम उनकी पुनरुक्ति नहीं करना चाहते।

हिन्दुस्थान के प्राचीन राज्य-प्रबन्ध में गुप्तचरों की आवश्यकता खुल्लमखुल्ला मानते थे। अब भी प्रत्येक देश में लाखों गुप्तचर हैं, परन्तु राज्य-प्रबन्ध के विवेचन में लोग उनका उल्लेख नहीं करते, व्यवहार का प्रश्न समझ उसे छोड़ देते हैं। गुप्तचरों का महत्त्व कई लोगों को 'मुद्राराक्षस' के पढ़ने से ही ज्ञात हो गया होगा। वे राजा की 'परोक्षदृष्टि' ही थे। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि कौटिल्य ने गुप्तचरों के गुण और कर्म दो बड़े बड़े अध्यायों में बतलाये हैं। यह वास्तव में व्यवहार का प्रश्न होने के कारण यहाँ उनके गुणों और कर्मों की सूची देना हम उचित नहीं समझते। गुप्तचरों के समान ही राजदूतों की आवश्यकता बतलाई है। मंत्रियों और गुप्तचरों से राजदूतों का कार्य कम महत्त्व का नहीं। इसलिए 'जिसने मंत्री का कार्य सफलतापूर्वक किया वही दूत बनाया जाय।' आज-कल के राजदूत और उस समय के राजदूतों के उद्देश, सिद्धान्त और व्यवहार एक समान ही देख पड़ते हैं। अपने राज्य के हितों की रक्षा करना अत्यन्त कठिन

कार्य है, और यह राजदूतों को परराज्य में करना होता है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि उन्हें अनेक प्रकार की विद्यायें आनी चाहिए, अनेक कलाओं में उन्हें निपुण रहना चाहिए, नाना प्रकार के गुप्त संकेत जानने चाहिए, सदैव सावधान रहना चाहिए और सब प्रलोभनों से बचना चाहिए। परराज्य की एक एक बात जानना अत्यन्त आवश्यक है। इसी लिए सफल मन्त्री ही अच्छे राजदूत हो सकते हैं।

अध्याय ४

जनपद

राज्य की 'सात प्रकृतियों' में से गत अध्याय में हमने दो—यानी, राजा और अमात्य—का विचार किया। शेष 'प्रकृतियों' का हम आगे क्रमशः विचार करेंगे।

आधुनिक राज्य-विज्ञान में भूमि और तत्सम्बन्धी प्रश्नों का विचार पहले होता है, और राज्य-शासन की व्यवस्था का तदनन्तर। इसका कारण यह है कि आधुनिक राज्य के स्वरूप का विचार करते समय भूमि का प्रश्न पहले उठाना ही पड़ता है, भूमि आधुनिक राज्य का अनिवार्य अंग है, उसके बिना आधुनिक राज्य का विचार हो ही नहीं सकता। अरस्तू ने

भी भूमि का विचार भरपूर किया है और राज्य की स्थिर दशा में भूमि का समावेश उसमें होता ही है क्योंकि मानवप्राणी की वसति और पालन-पोषण के लिए भूमि अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु भूमि की इतनी आवश्यकता रहते हुए भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि राज्य का अर्थ भूमि नहीं, किन्तु उसके निवासी और उनके परस्पर राजकीय सम्बन्ध हैं। इसी कारण कभी कभी पूर्व और पश्चिम दोनों ओर राज्य का ऐसा अर्थ प्रचलित रहा कि जिसमें भूमि की कल्पना शामिल न थी। राज्य से लोग, उनके परस्पर सम्बन्ध और उनके शासक-नेता का ही अर्थबोध होता था। वे प्रसंगवश आज यहाँ तो कल वहाँ रहते, या कभी कभी वे एक स्थान पर स्थिर हुए से देख पड़ते थे। परन्तु राज्य की कल्पना में भूमि की कल्पना अवश्यम्भावी न थी। तीसरी सदी से छठी-सातवीं सदी तक यूरोप में जो बर्बर लोग घूमते रहे, वे इसके उदाहरण हैं। उनके राज्य किसी विशिष्ट भूमि पर अवलम्बित न थे, किन्तु उनके राज्य के अंग, उनके अलग अलग लोक-समाज, शासन के अलग अलग नियम और अलग अलग शासक थे। फ्रैंक लोगों का राज्य, ऐंगल लोगों का राज्य, सैक्सन लोगों का राज्य आदि शब्द उस समय यूरोप में प्रचलित थे। फिर, कोई आश्चर्य नहीं कि ये लोग जिस भूमि-भाग में स्थिर बने रहे उसको उनका नाम प्राप्त हुआ। फ्रैंक से फ्रांस और ऐंगल से इँग्लेंड बने हुए शब्द सब लोगों पर विदित ही हैं। इसी

प्रकार अपने यहाँ प्राचीन काल में पाञ्चाल, मत्स्य, वत्स, शूर-सेन, कोसल, मिथिल आदि नाम थे। बहुधा लोगों के नाम से उनकी भूमि को नाम प्राप्त होता था। श्रीवैद्य की 'महा-भारत-मीमांसा' देखने से भी यही प्रतीत होता है। और राज्य के स्वरूप की यह कल्पना कौटिल्य के समय तक कुछ कुछ बनी ही रही। ध्यान में रखने लायक बात है कि कौटिल्य ने राजा और अमात्यों का विचार पहले किया, पीछे भूमि का। और भूमि को नाम भी क्या दिया जाता था? जनपद। कोश-कार इस शब्द का प्रथम अर्थ 'राष्ट्र' देते हैं, फिर 'राज्य' या 'बसा हुआ देश' और फिर केवल 'देश'। राज्य के विचार में लोगों का विचार पहले और भूमि का विचार बाद में आना नितान्त स्वाभाविक है। परन्तु लोक-समूह के किसी एक स्थान में स्थिर भाव से रहने पर राज्य की कल्पना में भूमि भी शामिल हो जाती है। फिर भूमि का महत्त्व इतना बढ़ जाता है कि सर्वसाधारण लोग राज्य से प्रधानतया भूमि का ही मतलब किया करते हैं। इस प्रकार राज्य, राष्ट्र और देश ये तीन शब्द साधारण भाषा में पर्यायवाची हो जाते हैं। शास्त्रीय रीति से 'राष्ट्र' में आज-कल केवल लोक-समाज और उनके परस्पर सम्बन्ध की कल्पना है, 'देश' में भूमि भाग की और 'राज्य' में 'राष्ट्र' और 'देश' दोनों की। कौटिल्य ने भी 'राज्य' शब्द का उपयोग इसी अर्थ में किया है। इसी कारण शासन-व्यवस्था के नितान्त आवश्यक

अंगों का विचार करने पर 'जनपद' यानी भूमि का विचार उसे करना पड़ा।

हम पहले कह चुके हैं कि कौटिल्य ने अपना ग्रन्थ बहुत करके चन्द्रगुप्त के लिए लिखा। चन्द्रगुप्त को आज-कल के समान ही अपने साम्राज्य के कई 'प्रदेश' बनाने पड़े और वहाँ प्रान्तीय अधिकारियों की नियुक्ति करनी पड़ी। परन्तु संभवत: इस बात का प्रश्न कौटिल्य के सामने न था। उसने कहीं भी इसका उल्लेख नहीं किया है। इससे अनुमान होता है कि कौटिल्य ने अपना ग्रन्थ चन्द्रगुप्त के राज्य का विस्तार होने से पहले ही लिख डाला था। इसी कारण उसने प्रान्त या प्रान्ताधिकारी का विचार नहीं किया। नहीं तो जिस ग्रन्थ में राज्य-शासन की बिलकुल छोटी छोटी बातें भी दी हैं, उससे प्रान्तीय शासन जैसी महत्त्वपूर्ण बात न छूट जाती। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रान्तीय शासन का तत्त्व कौटिल्य को मालूम ही न था। शासन-कार्य के लिए राज्य के टुकड़े करने का अर्थ कौटिल्य अच्छी तरह जानता था। उसने कहा है कि समाहर्ता को चाहिए कि राज्य के चार हिस्से करे। ऐसे हिस्से करने का मतलब क़रीब क़रीब वही देख पड़ता है जो बड़े विशाल राज्य को प्रान्तों में विभक्त करने से सिद्ध होता है। तथापि इतना अवश्य मानना चाहिए कि इस विभाजन का मुख्य उद्देश्य लगान का वसूल करना ही था। विभाजन करने का यह काम समाहर्ता अर्थात् लगान वसूल करनेवाले सर्वोच्च अधिकारी का

है। आज-कल भी ज़िले और कमिश्नरियाँ बनाने का मुख्य हेतु लगान-वसूली का सुभीता ही है और इन भागों के मुख्य अधिकारी वास्तव में 'रेविन्यू आफ़िसर' यानी लगान वसूल करनेवाले अधिकारी ही हैं। यह बात अलग है कि उनके इस कार्य के साथ राज्य-शासन के दूसरे अनेक कार्य जोड़ दिये गये हैं। यही बात कौटिल्य के राज्य के चतुर्थ भाग के अधिकारी को लागू होती है। इस अधिकारी का नाम कौटिल्य ने कहीं स्पष्टतया नहीं दिया है, परन्तु—'एवं च जनपदचतुर्भागं स्थानिकः चिन्तयेत्'—इस वाक्य से यही कहना पड़ता है कि इस अधिकारी को 'स्थानिक' कहते थे। इस 'चतुर्धा' विभाजन के बाद ग्रामों के वर्गीकरण की आवश्यकता है। ज्येष्ठ (श्रेष्ठ), मध्यम और कनिष्ठ नामक उनके भेद करके उनके ये वर्ग करना चाहिए: (१) 'परिहारक' यानी कर देने से बरी किये गये गाँव, (२) 'आयुधीय' यानी योद्धा देनेवाले गाँव, (३) अनाज, पशु, सुवर्ण, या कुप्य (कच्चे माल) के रूप में कर देनेवाले गाँव, (४) 'विष्टि' यानी कर न देकर सरकारी काम करनेवाले गाँव, और (५) 'कर प्रतिकर' यानी दूध-दही-घी जैसी चीज़ें या अन्य पैदा की हुई चीज़ें कर के बदले देनेवाले गाँव। गाँव के वर्गों के नामों के ये अर्थ यदि ठीक हैं, तो यह कहना पड़ेगा कि यह वर्गीकरण मोटी तरह से ठीक है, परन्तु यह न्यायशास्त्र की कसौटी पर अच्छी तरह न टिकेगा, क्योंकि तत्त्वतः पाँचवाँ वर्ग तीसरे के अन्तर्गत होता जान पड़ता है।

इसी रीति से दूसरा और चौथा भी उसी वर्ग में डाले जा सकते हैं। वास्तव में भेद ऐसा चाहिए था—कर देनेवाले गाँव और किसी भी रूप में कर न देनेवाले गाँव। फिर कर देनेवालों के तीन भेद किये जाते। योद्धा देनेवाले, अनाज, पशु, सुवर्ण या अन्य कोई माल देनेवाले, और तीसरे, कर के बदले सरकारी काम करनेवाले। फिर भी, मोटी तरह से उस समय की आवश्यकता के लिए कौटिल्य के भेद ठीक माने जा सकते हैं।

परन्तु अकेला स्थानिक सारे कार्य न कर सकता, इसलिए पाँच या दस गाँव पीछे 'गोप' नामक एक छोटा अधिकारी रहता था। "गाँव की हद निश्चित करना उसका काम था ही, परन्तु उपजाऊ ज़मीन, परती ज़मीन, मैदान, दलदल, बाग़, शाक-भाजी के बाग़, रास्ता (बाट), वन, वेदी, मंदिर, सेतुबंध (सिँचाई के लिए जहाँ पानी हो), स्मशान, सत्र (भोजनालय), प्रपा (वह ज़मीन जहाँ पथिकों को पानी मुफ़्त दिया जाता हो), पुण्यस्थान (तीर्थस्थान), गोचर और सड़क आदि भूमि के भेद भी वह करे और इस तरह से गाँव, खेत, वन और सड़कों की सीमा निश्चित करे। इसके अलावा, भूमि का सम्प्रदान (जैसे वसीयत), विक्रय, अनुग्रह (दान) और कर देने से मुआफी देना आदि बातों का लेखा रखे। घरों को कर देनेवाले और कर न देनेवाले वर्गों में बाँटना भी उसका काम है। इतना करने पर प्रत्येक गाँव के चारों वर्ण के कितने कितने

लोग किस किस घर में रहते हैं इसका लेखा रखे। इतना ही नहीं, उसे तो प्रत्येक गाँव में कितने कर्षक (किसान), गो-रक्षक (ढोरों के पालनेवाले), व्यापारी, कारीगर, मज़दूर, दास, द्विपाद और चतुष्पाद रहते हैं यह भी जानना चाहिए, और प्रत्येक घर से कितना सुवर्ण, (कर के रूप में) सरकारी काम, कर और जुर्माना पाना है यह ध्यान में रखना चाहिए। प्रत्येक घर के स्त्री-पुरुषों की, बाल और वृद्धों की संख्या, उनका चरित्र, धंधा, आय और व्यय भी उसे जानना चाहिए।"

इन विविध कामों में से कुछ तो आज-कल के पटवारी और उनके अफ़सर करते हैं, कुछ गाँव का कोतवाल या मुक़द्दम करता है, और कुछ ऐसे हैं कि जो आज-कल ग्राम-शासन में आते ही नहीं। स्त्री-पुरुषों की और बाल और वृद्धों की संख्या जानने का हेतु शायद यह हो कि राजा जान सके कि अपने राज्य में कितने योद्धा मिल सकते हैं और कितनी बड़ी सेना समय पड़ने पर खड़ी की जा सकती है। उनके चरित्र और धंधे, आय और व्यय जानने का हेतु स्पष्टतया यही हो सकता है कि लोग किसी तरह के पाप-कर्म अथवा अप-राध-द्वारा अपना उदर-निर्वाह न करें, और जो लोग ऐसा करें उन्हें दण्ड दिया जाय। आज भी पुलिस का काम होता है कि वह लोगों की इन बातों को यद्यपि मुखाग्र न जाने तथापि उन पर ध्यान अवश्य दे। इस नियम के पूर्वार्द्ध की आव-श्यकता तो गत महायुद्ध में कुछ देशों में ज़रूर पड़ी होगी।

ऊपर स्थानिक के विषय में जो वाक्य दे चुके हैं, उससे यह स्पष्ट हो जावेगा कि जनपद के चतुर्थ भाग के ऐसे ही सब कामों पर स्थानिक की देख-रेख रहनी चाहिए।

इन दिनों में प्रत्येक देश में प्रत्येक विभाग के लिए एक श्रेणिबद्ध नौकरशाही रहती है। उन दिनों में ऐसा न था। प्रत्यक्ष कार्य करनेवाले तो नीचे के ही कर्मचारी रहते हैं, परन्तु देख-रेख के लिए कई अन्य अफ़सरों की आवश्यकता होती है। रेल, तार और डाक के कारण आज-कल देख-रेख का काम सरल हो गया है। परन्तु उन दिनों में यह संभव नहीं था। इस कारण देख-रेख की रीति—यानी सरकारी कर्मचारी ठीक काम करते हैं या नहीं यह जानने की रीति—कुछ दूसरी ही थी। वह काम राजा अपने गुप्तचरों-द्वारा गुप्त रीति से करता था। गुप्तचरों का काम था कि वे इस बात की सूचना राजा को देते रहें कि प्रत्येक कर्मचारी अपना काम ठीक करता है या नहीं। इन दो पद्धतियों की तुलना करना उचित नहीं है। देश-कालानुसार इसमें परिवर्तन होता है। और ऊपर हम कह ही चुके हैं कि रेल, तार और डाक के अभाव से सरकारी, विशेष करके, राजधानी से दूर रहनेवाले, कर्मचारियों पर देख-रेख रखने का कोई दूसरा उपाय न था। इसमें भले ही बहुत सी बुराइयाँ हों परन्तु एक बड़ी भारी भलाई थी। प्रत्येक कर्मचारी को सदैव अपने काम में सचेत रहना पड़ता होगा क्योंकि वह यह न जान सकता था कि कब कौन गुप्तचर राजा को

कौनसी बात लिख दे। इतिहास से ऐसा जान पड़ता है कि देख-रेख की इस पद्धति का उपयोग अच्छा ही हुआ। अशोक के समय में यह प्रथा थी, यह बात उसके शिलालेखों से मालूम होती है। हम पहले ही कह चुके हैं कि गुप्तचर उस समय की व्यवस्था के बड़े आवश्यक अंग थे। राज्य की तमाम बातों पर उनकी गुप्त देख-रेख रहती और उनके द्वारा राजा को अपने राज्य की दशा का हाल मालूम होता रहता था, और इसलिए प्रत्येक कार्य के लिए भिन्न भिन्न प्रकार का गुप्त-चर रहता था। उनके वर्ग-भेद देकर हम पाठकों का समय नष्ट नहीं करना चाहते। सारांश में कह सकते हैं कि वे सब तरह के लोगों में से होते थे और नाना तरह के वेश धारण कर, यहाँ तक कि चोर भी बनकर, अपना काम किया करते थे।

समाहर्ता (लगान वसूली के सर्वोच्च अधिकारी) का भी काम वैसा ही था जैसा गोप या स्थानिक का था। तात्पर्य यह कि राज्य के प्रबन्ध का वास्तविक कार्य समाहर्ता, स्थानिक और गोपों द्वारा चलाने के लिए कौटिल्य ने कहा है। वे वास्तव में 'रेविन्यू आफ़िसर', (लगान वसूल करनेवाले अधिकारी) थे, परन्तु हिन्दुस्थान के आज-कल के 'रेविन्यू आफ़िसरों' के समान दूसरे कई काम भी करते थे। ऊपर हमने गोप के कार्यों की जो सूची दी है, उससे यह जान पड़ता है कि राज्य में शान्ति बनी रहे, इसके लिए कई आवश्यक कार्य इनके ही ज़िम्मे रक्खे गये थे।

परन्तु जनपद की रक्षा केवल इन्हीं के द्वारा न हो सकती थी। शान्ति-रक्षा का दूसरा मुख्य साधन दुर्ग था। प्रत्येक दस गाँवों के लिए 'संग्रहण' नामक दुर्ग, फिर इनके ऊपर प्रत्येक दो सौ गाँवों के लिए 'खार्वटिक' नामक दुर्ग, फिर इनके ऊपर प्रत्येक चार सौ गाँवों के लिए 'द्रोणमुख'* नामक दुर्ग और प्रत्येक आठ सौ गाँवों के लिए 'स्थानीय' नामक दुर्ग होना चाहिए। राज्य की सीमा पर अन्तपाल (सीमा के रक्षक) नामक योद्धाओं-द्वारा रक्षित दुर्ग बनाने चाहिए। इनका काम होगा कि ये राज्य के प्रवेश-द्वारों की रक्षा करें। राज्य के भीतरी भाग की रक्षा वागुरिक†, शवर, पुलिन्द, चण्डाल और अरण्यचरों को करनी चाहिए।

---

* मूल पुस्तक में इनमें से केवल द्रोणमुख और खार्वटिक का कुछ स्थूल अर्थ दिया है। द्रोणमुख बहुधा जलदुर्ग होता था और इसलिए वहाँ प्रवेश पाना कठिन काम था। खार्वटिक मामूली दीवालों से घिरा रहता था और इस कारण शायद इसे अँगरेज़ी का 'फार्टीफिकेशन' (परकोट) कह सकते हैं। बड़े शहर के दुर्गों को स्थानीय कहा जान पड़ता है। 'संग्रहण' के अर्थ का पता लगाना कठिन है।

† वागुरा जाल या फन्दे को कहते हैं। इसलिए वागुरिक का अर्थ होता है जाल या फन्दे-द्वारा पकड़नेवाले लोग। शवर पर्वतों पर रहनेवाले लोग हैं। पुलिन्द जङ्गली जाति का नामविशेष है। श्री शाम-शास्त्रीजी ने शवर का अर्थ तीरंदाज और पुलिन्द का अर्थ शिकारी दिया है। चाण्डाल का अर्थ स्पष्ट है। अरण्यचर यानी अरण्य में रहने-वाले लोग।

शान्ति-रक्षा के लिए यह भी आवश्यक है कि शान्ति-भंग करनेवाले लोग राज्य में स्वतंत्रता से न घूमने पावें। गुप्तचरों का काम तो था ही कि वे ऐसे लोगों की सूचना राजा को दिया करें, परन्तु यह भी आवश्यक था कि "वानप्रस्थ के सिवा दूसरा कोई परिव्राजक, और स्थानीय समाज और संघ के सिवा कोई दूसरे समाज और संघ, गाँव में स्थान न पावें। गाँव में 'आराम' या 'विहार' की 'शालायें' भी न रहने पावें। और न नट, नर्तक, गायक, वाहक, वाग्जीवन* और कुशीलव (भाट) गाँव में आकर लोगों के काम में विघ्न डालने पावें, क्योंकि ग्रामीण लोग बड़े निःसहाय होते हैं और खेत ही उनकी सारी ज़िन्दगी है।"

"जो भूमि सदा परचक्र (यानी शत्रु के हमले) या अटवी से ग्रस्त रहती है या व्याधि या दुर्भिक्ष से पीड़ित रहती है, उसको राजा त्याग दे और बहुत ख़र्चीली क्रीड़ाओं से दूर रहे। राजा भारी भारी दण्ड, विष्टि (कर के बदले का काम) और करों से कृषि को बचावे और चोर, बाघ, विषहरे जीव और व्याधि से ढोरों की रक्षा करे"। इन नाना क्लेशों से ऊपर दिये भिन्न भिन्न उपायों-द्वारा जनपद की रक्षा करना राजा का

---

* श्रीशाम शास्त्रीजी ने वाग्जीवन का अर्थ 'हँसानेवाला' (बफून) किया है। नाना तरह की आवाज़ों के द्वारा, चित्र विचित्र चर्या के द्वारा या ऐसे ही अन्य प्रकार से लोगों का मनोरञ्जन करनेवाला 'वाग्जीवन' कहला सकता है।

काम है। पाठकों को एक बात शायद खटकी होगी। नागरिक आराम, विलास और मनोरंजन की सामग्री से बेचारे ग्रामीणों को कोसों दूर रखने के लिए कौटिल्य ने कहा है। मनुष्य की दृष्टि से यह मानना होगा कि ग्रामीण हुए तो क्या, वे भी मनुष्य हैं और उन्हें भी इस प्रकार की थोड़ी बहुत सामग्री चाहिए। परन्तु एक दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए। कृषि पर राष्ट्र का जीवन अवलम्बित है। यदि कृषक अपने काम छोड़कर इनमें मग्न हो जायँ तो राष्ट्र की ज़िन्दगी चलना मुश्किल हो जाय। जिन दिनों में आवागमन के साधन बहुत कम थे, उन दिनों में प्रत्येक राज्य की कृषि का बहुत अधिक महत्त्व था। इस कारण कौटिल्य ने ही नहीं, राजा के कार्यों पर जिन जिन लोगों ने प्राचीन काल में थोड़ा बहुत लिखा है, उनमें से प्रत्येक ने कृषि की गाथा गाई है और उसकी हर तरह से रक्षा और उन्नति करना राजा का आदि-कर्तव्य बतलाया है। ऐसी अवस्था में कौटिल्य ने नागरिक आराम, विलास और मनोरञ्जन की सामग्री से ग्रामीणों को दूर रखने के लिए जो कहा है, यह उचित ही है। यह एक अनुमान किया जा सकता है कि कौटिल्य के समय में इस सामग्री की अतिशयता होगई हो और इस कारण ऐसी सूचना की गई हो। दूसरा अनुमान यह निकल सकता है (और यही बहुत शक्य है) कि उस समय चन्द्रगुप्त का राज्य स्थिर न हुआ था और विघ्नकर्ता बहुत अधिक थे। ये उन

रूपों में घूमा करते थे। ये गांवों में जाकर 'असंतोष' न फैलाने पावें इसके लिए यह आवश्यक था कि ग्रामीणों से ये दूर रखे जायँ। और इसलिए उपरिलिखित नियम की आवश्यकता पड़ी।

वनों को भी जनपद में शामिल करना चाहिए। उनकी रक्षा के लिए भी कौटिल्य ने अनेक नियम बताये हैं। आज-कल के जंगल-विभाग के समान कौटिल्य ने भी जंगलों का कुप्याध्यक्ष नामक सर्वोच्च अधिकारी बतलाया है। ब्राह्मणों के लिए उनकी आवश्यकता के अनुसार अलग वन होते थे, राजा की क्रीड़ा के लिए अलग, लोगों के लिए अलग और हाथी पालने के लिए अलग होते थे। उस समय हाथी चतुरंगिनी सेना का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। इस कारण हाथियों की वृद्धि और रक्षा के लिए कौटिल्य ने बहुत सी बातें लिखी हैं, परन्तु शासन-व्यवस्था की दृष्टि से उनसे हमें विशेष प्रयोजन नहीं है।

अध्याय ५

दुर्ग और नगर

गत अध्याय में जनपद की रक्षा के विषय में लिखते हुए हमें दुर्गों का उल्लेख करना पड़ा था। वहाँ पर हमने दुर्गों का केवल एक वर्ग-भेद बतलाया था, परन्तु अब हम उनका और उन्हीं के साथ नगर का विशेष विचार करेंगे।

राज्य को शत्रुओं के हमले का डर सदैव बना रहता है इसलिए उसकी रक्षा के हेतु राज्य में चारों ओर दुर्ग बनाने चाहिए। दुर्ग कई प्रकार के होते हैं—औदक या जलदुर्ग, पार्वत या पर्वतदुर्ग, धान्वन यानी जलहीन अथवा छोटी छोटी झाड़ीवाली उजाड़ ज़मीन के दुर्ग, और वनदुर्ग। प्राचीन काल में सब देशों में क़िलों का महत्त्व भारी था, और इस कारण प्रचलित रीति के अनुसार ही कौटिल्य ने क़िलों के महत्त्व पर ज़ोर दिया है। उसने कहा है कि जल और पर्वत के दुर्गों से ही 'जनपद' की रक्षा हो सकती है। राजधानी का स्थान क़िले से घिरा रहना ही चाहिए। साथ ही वह बहुत सुरक्षित स्थान में बनाना चाहिए। क़िले के चारों ओर तीन खाइयाँ होनी चाहिए। क़िले कैसे बनाये जायँ, इसके विषय में कौटिल्य ने अनेक नियम दिये हैं। इनमें सुरक्षितता का विचार प्रधान है। राजधानी के क़िले में इमारतें और सड़कें किस नियम से बनाई जायँ इसके भी नियम उसने दिये हैं। अच्छे सुरक्षित स्थान में राजप्रासाद बनाना चाहिए और फिर चारों ओर चारों वर्णों के घर रहने चाहिए। देव-स्थानों का बीच में रहना आवश्यक है। एक बात ध्यान देने योग्य है। कौटिल्य ने कहा है कि प्रत्येक दस घरों के पीछे एक कुआँ अवश्य रहे। मामूली समय के लिए इनकी आवश्यकता थी ही, परन्तु शत्रु से घेरे जाने पर इनकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती थी। जब नल नहीं थे तब आग

बुझाने के लिए भी यह नियम आवश्यक था। आजकल भी इस कर्तव्य को माननेवाले राज्य बहुत थोड़े हैं। 'जो बाहिरिक (यानी बाहर के) लोग नगर और राष्ट्र के उपघातक (यानी हानि पहुँचानेवाले) हों उन्हें क़िले में न रहने देना चाहिए। या तो उन्हें देहात में निकाल देना चाहिए अथवा उन पर कर का अच्छा बोझ लादना चाहिए।'

नगर की व्यवस्था

इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त के राज्य की व्यवस्था का जो वर्णन दिया है, उसमें यह बतलाया है कि आजकल के स्थानिक स्वराज्य के समान उस समय भी शहरों की व्यवस्था थी। उस समय भी इस शासन के लिए 'बोर्ड' रहते थे। परन्तु कौटिल्य के ग्रन्थ में इनका पता कहीं नहीं है। उलटे, उसमें नगर की रक्षा के लिए एक ही शासक बतलाया गया है और वह 'नागरक' कहा गया है। कौटिल्य ने नगर की सारी व्यवस्था इसी 'नागरक' को सौंपी है। इसके बाद उसने दूसरे कई कर्मचारियों के नाम और कर्तव्य बतलाये हैं। नगर की सारी व्यवस्था 'नागरक' के हाथ में रहनी चाहिए, इस कथन से स्पष्ट जान पड़ता है कि ये दूसरे कर्मचारी उसके हाथ के नीचे रहते होंगे। 'प्रत्येक दस, बीस या चालीस घरों के पीछे एक गोप रहना चाहिए। उसे उन घरों के स्त्री-पुरुषों की जाति, गोत्र, नाम और कर्म (धन्धे) का ही नहीं, प्रत्युत उनके आय-व्यय का भी ज्ञान हो। नगर के चतुर्थ भाग की व्यवस्था

के लिए एक 'स्थानिक' होना चाहिए। 'स्थानिक' को भी सारे नगर की बातें मालूम होनी चाहिए। यह भी आवश्यक है कि नगर में कौन आता है, कौन जाता है, इस बात का ज्ञान उसे रहे। इसलिए 'धर्मगृहों के मुखियाओं का यह कर्तव्य है कि वे अपने यहाँ आनेवाले 'पाषण्डों'* और पथिकों की सूचना 'गोप' या 'स्थानिक' को दें। अपने स्थानोंमें केवल ऐसे तपस्वी और श्रोत्रियों को स्थान दें जिनमें उनका पूरा पूरा विश्वास हो।' आजकल भी कहीं कहीं धर्मशालाओं और सरायों में आने जानेवालों की, और कहीं कहीं तो प्रत्येक घर में आने जानेवालों की, सूचना पुलिस को अथवा स्थानिक कर्मचारियों को देनी पड़ती है। और जिन लोगों के विषय में सरकार को किसी प्रकार की शंका रहती है, उनके पीछे या तो गुप्तचर घूमते हैं या ऐसे शंकास्पद लोगों को अपने निवास-स्थान की सूचना सरकार को देनी पड़ती है। तथापि इस नियम के कुछ अपवादों का उल्लेख कौटिल्य ने किया है।

* बौद्ध परिव्राजकों के लिए पाषण्ड शब्द आया है। पाठकों को यह मालूम ही होगा कि जो लोग देखने में बड़े धार्मिक होते हैं, पर भीतर से बड़े अधार्मिक रहते हैं उन्हें आजकल पाखण्डी कहते हैं। इस शब्द का इतिहास जो हो, पर कौटिल्य के इस शब्द के उल्लेख से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय वास्तविक बौद्ध-धर्म की गिरती अवस्था थी।

'कारुशिल्पी' (कारीगर) और व्यापारी चाहें तो अपनी जवाबदेही पर अपने स्थानों में अपने धंधे के लोगों को रख लें। 'परन्तु यदि व्यापारी लोग किसी को मना किये स्थान या समय में या मना की हुई चीज़ें बेचते देखें तो उसकी सूचना अवश्य दें।' इसका कारण स्पष्ट ही है। मना किये हुए स्थानों पर या मना किये हुए समय में अथवा मना की हुई चीज़ें बेचनेवालों के विषय में किसी को भी संदेह हो सकता है। इसी प्रकार, संदेह के पात्र होने के कारण, बहुत अधिक ख़र्च करनेवाले या अधिक साहस का काम करनेवाले की भी सूचना मिलनी आवश्यक है। 'यदि कोई वैद्य गुप्त रोग से, फोड़े से, अथवा अपथ्य-कारक भोजन-द्वारा उत्पन्न रोग से पीड़ित मनुष्य का इलाज करे, तो उसका ही नहीं, प्रत्युत जिसके घर में इलाज हो उसका भी, कर्तव्य है कि वह गोप या स्थानिक को इस बात की सूचना दे। अन्यथा, रोगी के साथ वह भी दण्डनीय होगा।' आजकल प्रत्यक्ष में तो इस नियम का प्रयोग नहीं होता, परन्तु अप्रत्यक्ष रीति से यह अमल में अवश्य आता है। क्योंकि यदि रोगी कोई गुनाह करे और उसे छुपाने में कोई डाक्टर इत्यादि भाग लें तो वे भी दोषी होते हैं।

"घर के मालिकों का काम है कि अपने घर में आने-जानेवाले लोगों की सूचना दें, अन्यथा रात्रि को जो कोई चोरियाँ होंगी, उनकी जवाबदेही उन (घर के) मालिकों पर

होगी। यदि चोरियाँ न भी हुईं तो भी उन पर तीन पण॥ जुर्माना होगा।" इस नियम का प्रथम और अन्तिम भाग आजकल भी कई स्थानों में प्रयुक्त होता है, परन्तु आगे का नियम इससे कुछ अधिक बढ़ जाता है। "सड़क या गली से जानेवाला पथिक शहर के भीतर या बाहर किसी मन्दिर, पवित्र स्थान, वन या श्मशान में किसी को व्रण-पीड़ित, या हानि पहुँचानेवाली सामग्री से युक्त, या भारी बोझ ले जाने के कारण थका हुआ, या दूसरों की आँख बचाते हुए, या बहुत सोते हुए, या ख़ूब चलने के कारण थका हुआ पावे, या वह उस स्थान में अपरिचित सा जान पड़े तो उस पथिक का काम है कि ऐसे पुरुष को पकड़ ले।" इस नियम में पाप-कर्म, चोरी या ऐसे ही अन्य अपराधों की आशंका स्पष्ट है। अब भी समाज को ऐसे लोगों से बचाने के लिए कभी कभी यह काम नैतिक या बाक़ायदा जवाबदेही के कारण करना पड़ता है। "गुप्तचरों का काम है कि वे शंकास्पद लोगों को निर्जन घरों में, आबकारी की दूकानों में, या पकापकाया चावल अथवा मांस बेचनेवाली दूकानों में, द्यूतगृहों में और पाखण्डियों के घरों में तलाश करें।" इनमें से बहुतेरी बातें उचित

॥ 'पण' नामक सिक्का उस समय प्रचलित था, और वह चाँदी और ताम्बा दोनों का होता था। अधिक खुलासे के लिए पृष्ठ ५३ की तीसरी टिप्पणी तथा पृष्ठ ११२ देखिए।

ही हैं, परन्तु 'पकापकाया चावल या मांस' बेचनेवाली दूकानों के उल्लेख का अर्थ स्पष्ट नहीं जान पड़ता।

आजकल ऐसा कोई नियम नहीं कि अमुक समय में आग न सुलगानी चाहिए। परन्तु नगर-रक्षा की दृष्टि से उस समय इस नियम की आवश्यकता थी। कौटिल्य ने बतलाया है कि ग्रीष्म में दिन के चार भागों के बिचले दो भागों में (यानी कड़ी धूप के समय) आग सुलगाना मना कर देना चाहिए। लोग चाहें तो घर के बाहर रसोई पकाने का काम कर सकते हैं। परन्तु आग से नगर की रक्षा हो सके, इसके लिए कुछ अधिक नियमों की आवश्यकता थी। "यदि किसी घर के मालिक के पास पानी के पाँच घड़े, एक कुम्भ (पानी लाने का घड़ा), एक द्रोण*, एक सीढ़ी, एक कुल्हाड़ी, एक सूप, एक अंकुश†, चिमटा (या शायद संडसी) और मशक न रहेंगे तो उस पर एक चतुर्थांश पण‡ जुर्माना होगा।" क्या

---

* यह काठ का बना हुआ पानी का पात्र था और बहुधा घर के दरवाज़े पर रक्खा रहता था।

† श्री शामशास्त्रीजी ने हाथी के अंकुश का उल्लेख किया है, परन्तु हमारी समझ में इसकी आवश्यकता रस्सी वग़ैरः लटकाने के लिए होगी इसलिए इसे आजकल का 'हुक' कह सकते हैं।

‡ जहाँ जुर्माने के सम्बन्ध में 'पण' का उल्लेख है, वहाँ उसे चाँदी का सिक्का समझना चाहिए। जुर्माना दण्ड देने के लिए किया जाता है और इस कारण दण्ड के समान जँचने के लिए उसे चांदी का समझना होगा।

ही अच्छा नियम कौटिल्य ने बतलाया है ! इसका अभिप्राय यही है कि आग लग गई तो आग बुझाने की सब सामग्री प्रत्येक घर में रहनी चाहिए ताकि दौड़-धूप करने में समय न खोना पड़े। आज की नवीन स्थिति में भी इस नियम की आवश्यकता बनी ही है। कौटिल्य ने एक नियम यह भी बतलाया है कि सब बड़े रास्तों में, चौरास्तों में और राजप्रासाद के चारों ओर पानी से भरे हज़ारों घड़े रखने चाहिए। परन्तु आजकल इस नियम की आवश्यकता कम है, क्योंकि बहुधा सब शहरों में नलों की व्यवस्था हो गई है। तथापि यदि शहरों में बड़े बड़े हौदे बना दिये जायँ तो इससे लाभ ही होगा। कौटिल्य ने यह आवश्यक नियम बतलाया है कि यदि कोई मनुष्य घर का मालिक होकर भी कहीं आग लगने पर सहायता देने के लिए दौड़कर न जावे तो उस पर बारह पण जुर्माना किया जावे। और यदि कोई किरायेदार (विक्रयी) न दौड़ जावे तो उस पर छः पण जुर्माना किया जावे। आग एक ऐसी भयंकर आपत्ति है कि उसे दूर करने का काम लोगों की सदिच्छा, सहकारिता, परोपकार, आदि उच्च मनोवृत्तियों पर छोड़ना कौटिल्य को ठीक न जँचा। इसलिए उसने कहा है कि जो कोई गृहस्वामी आग बुझाने में योग न देगा, वह दण्डनीय होगा। और यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि यह ज़बरदस्ती घरों के मालिकों पर ही है। जिनके घर नहीं उन पर यह ज़िम्मेदारी

लादना वृथा है। जिनके घर हैं उन्हीं को इच्छा होगी कि आग जल्द बुझाई जाय। बिना घरवाले बदमाश लोग तो उसे और भी भड़काने की कोशिश करेंगे, क्योंकि उस समय लूट-मार करने का मौक़ा मिल सकेगा। 'फूस के छप्पर निकाल देने चाहिए'। इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। क्या आग लगने पर फूस के छप्पर निकाल देने चाहिए अथवा शहर में फूस के छप्पर रहने ही न देना चाहिए। पहला अर्थ ही अधिक संभव जान पड़ता है। आग से काम लेनेवाले (जैसे सोनार, लुहार आदि) अलग एक ओर बसाये जायँ। आम लोगों को आग की आफ़त से बचाने के लिए इस नियम की आवश्यकता स्पष्ट है। आजकल भी देहातों में सोनार या लुहार की असावधानी के कारण गाँवों में आग लगने के मौक़े देखने में आते हैं। जो असावधानी करें वे ही उसकी आफ़त सहें, यही इस नियम का मतलब देख पड़ता है। परन्तु असावधानी करनेवाले लोग इतने से ही पूर्णतया बरी नहीं हो सकते। उन पर ५४ पण जुर्माना करना चाहिए। परन्तु जो जान-बूझ कर आग लगावें वे तो आग में ही जला दिये जायँ। इस नियम को आजकल के लोग बहुत कठोर कहेंगे। परन्तु यदि हम आग के भयंकर परिणामों को देखें और उस समय की स्थिति का ख़याल रखें तो हमें यह मानना होगा कि उस समय इस कड़े नियम की आवश्यकता थी, और हमारी समझ में, अब भी है क्योंकि आग से जान माल को

कितना भय रहता है यह किसी को बतलाने की आवश्यकता नहीं।

सफाई के भी कई अच्छे नियम दिये हैं। "जो कोई सड़क पर कूड़ा-कर्कट फेंकेगा उस पर ⅛ पण जुर्माना होगा।" इस नियम को पढ़कर हमें 'टाइम्स आफ इण्डिया' के एक दो नोटों का स्मरण हो आया। बड़े शहरों में लोग सड़कों पर घर का कूड़ा-कर्कट मनमाने फेंक देते हैं जिसके कारण लोगों को बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। उक्त पत्र के संपादक ने बम्बई के विषय में जो कुछ एक बार लिखा था, उससे यह ध्वनि निकलती थी कि यदि लोग इन बातों को न रोकेंगे तो क़ायदे की आवश्यकता पैदा हुए बिना न रहेगी। ऐसी दशा में कोई आश्चर्य नहीं कि कौटिल्य ने ऐसे काम को अपराध माना है। किन्तु यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि कूड़ा-कर्कट के लिए कौटिल्य ने क्या प्रबन्ध बतलाया है? इसका उत्तर 'अर्थशास्त्र' के आधार पर नहीं दिया जा सकता क्योंकि, जहाँ तक हमने ढूँढ़ा है, ग्रन्थ में इस बात का विचार नहीं है। विन्सेण्ट स्मिथ कृत चन्द्रगुप्त के राज्य-वर्णन से ही, किसी अंश में, यह बात जानी जा सकती है। यदि आजकल ऐसे गाँवों या शहरों में जावें जहाँ म्युनिसिपलटियाँ नहीं हैं तो इस विषय में पहले यह बात देखने में आवेगी कि लोग साल भर तक घर के आस-पास कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करते हैं और बरसात आने पर उसे खेतों में खाद के बतौर डाल आते हैं या किसी

लेनेवाले को दे डालते हैं। दूसरे, कुछ लोग ऐसे भी रहते हैं जो घर का भी कूड़ा-कर्कट गाँव के बाहर डाला करते हैं। परन्तु बड़े शहरों में यह उस समय भी संभव नहीं माना जा सकता कि घरों के भीतर या उसके आस-पास कूड़ा इकट्ठा किया जाय। फलतः यह अनुमान निकालना पड़ता है कि लोग रोज़ शहर के बाहर कूड़ा-कर्कट फेंक आया करते होंगे। परन्तु इतने से ही यह प्रश्न पूरा पूरा हल नहीं होता। सड़कों पर और गलियों में धीरे धीरे बहुत सा कचरा इकट्ठा हो ही जाता है। इसके लिए क्या प्रबन्ध था? कौटिल्य के ग्रंथ से इसका भी उत्तर देना कठिन है। विन्सेण्ट स्मिथ ने भी कहीं इस बात का दिग्दर्शन नहीं किया है। आजकल देहातों में लोग अपने घर के सामने की गली साफ़ कर लेते हैं। कुछ अंश में अब तक यह काम शहरों में भी होता है। घर के ठीक सामने की ज़मीन गन्दी रहना किसी को नहीं भाता। परन्तु इतना मान लेने पर भी बड़ी सड़कों की सफ़ाई का प्रश्न हल नहीं होता। इसलिए यह भी मानना पड़ता है कि प्रत्येक शहर में इस काम के लिए कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य रहा होगा। ऊपर बतलाये गये नियम के बाद कौटिल्य ने कहा है, "जो कोई (सड़क पर) कीचड़ या पानी इकट्ठा करेगा उस पर ¼ पण जुर्माना होगा और जो कोई यही अपराध राजमार्ग पर करेगा उस पर ऊपर दिये जुर्मानों से दुगुना जुर्माना होगा।" आगे कहा है "पुण्यस्थान" जलाशय, मन्दिर और राजप्रासाद में जो कोई

मल-विसर्जन करे उस पर एक पण से लगा कर आगे अपराध के अनुसार दण्ड होगा, परन्तु मूत्र-विसर्जन करे तो उसका आधा दण्ड होगा। हाँ, यदि औषधि, व्याधि या भय से कोई यह काम (मल या मूत्र का विसर्जन) करे तो उसे दण्ड न दिया जायगा। जो कोई शहर के भीतर बिल्ली, कुत्ते, नेवले या सांप का मृत शरीर डाल देगा उस पर तीन पण जुर्माना होगा; गधे, ऊँट, खच्चर या ढोर की मृतदेह डालनेवाले पर छः पण जुर्माना होगा; और मृत मनुष्य का शरीर डालनेवाले को ५० पण दण्ड देना होगा।" आजकल की नाई उस समय भी श्मशान निश्चित रहते थे, क्योंकि कौटिल्य ने कहा है कि "मरघट या श्मशान-भूमि को छोड़कर अन्यत्र कोई मृतशरीर का दहन करे या उसे गाड़े तो वह बारह पण दण्ड का भागी होगा।" श्मशान ही नहीं, बल्कि श्मशान-मार्ग भी निश्चित रहते थे। कौटिल्य का स्पष्ट नियम है कि जो कोई किसी मृत शरीर को हमेशा के या निश्चित किये द्वार या मार्ग को छोड़कर अन्य द्वार या मार्ग से ले जावेगा वह दण्डित होगा। इतना ही नहीं, जो द्वारपाल (यानी फाटक के चौकीदार) ऐसा करने देंगे उन पर दो सौ पण जुर्माना होगा। इस नियम के कई हेतु हो सकते हैं। निश्चित मार्ग या द्वार से मृत शरीर ले जाने से किस दिन कितने लोग किस कारण मरे, यह जाना जा सकता है। इस रीति से शहर की व्याधियों का पता लग सकता है। साथ ही अपराध करनेवाले भी पकड़े जा सकते हैं, क्योंकि मामूली रास्तों को छोड़ अन्य मार्ग से मृतक को ले जानेवालों के

विषय में सन्देह होना स्वाभाविक है। तीसरे, चाहे जहाँ से मृतक ले जाने से लोगों को असुविधा भी हो सकती है।

रात को शहर में कोई घटना न होने पावे इसके विषय में कौटिल्य ने अनेक नियम दिये हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख प्रारम्भ में हो चुका है। शहर के भीतर रात को घूमने के विषय में भी नियम आवश्यक है। रात होने के छः (नालिका) घड़ी बाद और दिन निकलने से छः घड़ी पहले किसी को न घूमना चाहिए, और इस बात की सूचना लोगों को नक्कारा बजाकर देनी चाहिए। "नक्कारा बजने पर जो कोई (इस बिचले समय के) प्रथम याम* में या अन्तिम याम में राज-

*'याम' का अर्थ साधारणतः एक प्रहर यानी तीन घण्टे का होता है, और यही अनुमान शामशास्त्रीजी का भी प्रतीत होता है। परन्तु हमें नहीं जान पड़ता कि यह अर्थ यहाँ लागू हो सकता है, क्योंकि छः घड़ी पहले के और छः घड़ी आख़िर के निकाल दें तो कुल मिलाकर बारह घड़ी यानी ४ घण्टे ४८ मिनट निकाल देने पड़ते हैं। रात सदा बारह घण्टे की नहीं होती, परन्तु यदि यह मान भी लिया जाय तो भी बिचला समय क़रीब सात घण्टे का ही रह जाता है, और यहाँ के मूल उल्लेख से यह स्पष्ट है कि इस बिचले समय में कम से कम तीन 'याम' माने जायँ। इस प्रकार से हिसाब लगाने पर एक याम तीन से कम घण्टों का निकलता है। यह हुई उस अवस्था की बात जब रात बारह घण्टे की हो परन्तु गर्मी के दिनों में उत्तर हिन्दुस्तान में रात नौ साढ़े नौ घण्टे की ही होने की सम्भावना है। ऐसे समय में यदि क़रीब पाँच घण्टे इनमें से घटा दिये तो चार साढ़े चार घण्टे ही बच जाते हैं। ऐसी अवस्था में याम डेढ़ घण्टे से अधिक का नहीं हो सकता।

प्रासाद के पास घूमता हुआ पाया जावेगा, उसे १¼ पण दण्ड देना होगा, और जो कोई बिचले याम में घूमता पाया जावेगा उसका इससे दुगना जुर्माना होगा, और जो कोई (नगर या दुर्ग के) बाहर घूमता पाया जावेगा उस पर चार गुना जुर्माना होगा। जो कोई शंकनीय स्थान (या काल) में कोई अपराध करते पाया जायगा उसकी जाँच-पड़ताल की जावेगी।" इसका यह अर्थ नहीं कि रात को कोई घूमने ही न पावे। मानव-संसार के कई काम ऐसे होते हैं जो रात को भी करने पड़ते हैं। इसलिए कौटिल्य ने कहा है, "जो कोई सूतिका, चिकित्सा, या प्रेतदहन के लिए या हाथ में दीपक लेकर या नक्कारा बजने का कारण जानने के लिए या 'नागरक' से मिलने के लिए या अग्नि बुझाने के लिए या अधिकारियों का पत्र (यानी आजकल का 'पास') लेकर रात को जावेगा वह न पकड़ा जावेगा।" इस अपवादसूचक नियम में उन सब कारणों का समावेश हो गया है जिनसे प्रेरित होकर किसी को रात्रि के समय भी आने जाने की आवश्यकता पड़ सकती है। आगे कौटिल्य ने कहा है, "चार रात्रि" को (स्वतंत्रता से घूमने की रात को) जो कोई वेशान्तर करके घूमेंगे या जो मना करने पर घूमेंगे या जो दण्ड और शस्त्र लेकर घूमेंगे, वे अपराधानुसार दण्डनीय होंगे।" 'चार रात्रि' के उल्लेख से ऐसा जान पड़ता है कि उस काल में कुछ रात्रियों को लोग स्वतंत्रता से घूम सकते थे। बहुधा ये रात्रियाँ सामाजिक, धार्मिक या

राजकीय उत्सवों की रात्रियाँ होती होंगी। बिना अधिकार के या अनुचित समय पर घूमनेवालों को रोकने का काम, आज-कल की नाईं, उस समय भी पहरेवालों के सिपुर्द था। जिसे रोकना चाहिए उसे यदि वे न रोकें तो उन्हें अनुचित समय में घूमनेवाले के अपराध से दुगुना दण्ड मिलता था। परन्तु इसी के साथ यह भी कहा गया है कि जिसे न रोकना चाहिए उसे रोकने से भी उन्हें उतना ही दण्ड होता था। यहाँ मूल में है, "रक्षिणामवार्यं वारयताम् वार्यं चावारयता-मक्षणद्विगुणो दण्डः।" हमारी समझ में श्रीशामशास्त्रीजी ने 'स्टॉप' शब्द का जो उपयोग किया है, वह पूरा पूरा ठीक नहीं है। यहाँ वारण करने का अर्थ रोक रखना है। और यदि यह अर्थ किया जाय तो नियम ठीक जान पड़ता है। 'वारयतां' का 'स्टॉपिंग' या 'अवारयतां' का 'नॉट स्टॉपिंग' अर्थ करने से यह कठिनाई पैदा होगी कि पहरेवाला बिना रोके (यानी खड़ा किये) कैसे जान सकता है कि अमुक को जाने देना चाहिए और अमुक को न जाने देना चाहिए। इस कार्य के लिए रोकना यानी क्षण भर खड़ा कर पूछ-पाछ करना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए 'वारयतां' का अर्थ 'रोक रखनेवालों का' और 'अवारयताम्' का अर्थ 'न रोक रखनेवालों का' होता है। पहरेवाले अपने काम में व्यग्र रहें, इसलिए आव-श्यक है कि वे अनुचित मोह में न पड़ें। इसी दृष्टि से कौटिल्य ने कहा है, यदि किसी पहरेवाले का किसी दासी से अनुचित

सम्बन्ध हो तो वह दण्डनीय होगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि 'दासी' दास शब्द का जातिवाचक स्त्रीलिंग-सूचक रूप है। इससे स्पष्ट होता है कि इस समय तक जातिनिर्बन्ध पूरे न बन चुके थे और वर्णसंकर जारी था। इतिहास के देखने से भी इस बात का समर्थन होता है।

इसके आगे कौटिल्य ने 'नागरक' के कुछ कर्तव्य बतलाये है। उसका काम है कि शहर में रात को जो कोई जड़जीव-सम्बन्धी घटना हो उसकी सूचना राजा को दे। यदि वह ऐसा न करेगा या अपने कार्य में किसी तरह की असावधानी दिखलाते देख पड़ेगा तो वह अपराध के अनुसार दण्डनीय होगा। उसका काम है कि 'वह रोज़ जलाशयों, सड़कों, गुप्त मार्गों, क़िलों, क़िलों की दीवारों और रक्षा के दूसरे साधनों की देख रेख करे।' यदि गुमी हुई, भूली हुई, या छोड़ दी हुई कोई चीज़ मिले तो उसको हिफाज़त से रखे।' सारांश, नगर की शान्ति और रक्षा के लिए 'नागरक' ज़िम्मेदार था।

समय समय पर क़ैदियों के मुक्त करने की प्रथा भी इस काल में देख पड़ती है। कौटिल्य ने कहा है कि राजा के जन्म के दिन बालक, वृद्ध, व्याधिपीड़ित या अनाथ क़ैदी छोड़ दिये जायँ। पुण्यशील क़ैदियों को या कुछ क़रार किये हुए क़ैदियों को 'दोषनिष्क्रय' यानी मुक्त होने का द्रव्यरूप में उचित दण्ड ले तो छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार समय

कि कौटिल्य ने अपना ग्रंथ चन्द्रगुप्त के शासन के नितान्त प्रारम्भकाल में लिखा हो, और इस बात को एक दूसरी रीति से हम भी दिखला चुके हैं। तथापि हमें नहीं जान पड़ता कि मेगेस्थनीज़ के नगर-शासन के वर्णन और कौटिल्य की व्यवस्था में तत्त्वतः कोई भेद रहा होगा। हम दोनों वर्णनों का एक रीति से सामञ्जस्य कर सकते हैं और विन्सेण्ट स्मिथ ने अपने पाठकों को जिस भ्रम में डाल दिया है उसे भी दूर कर सकते हैं। चन्द्रगुप्त के राजा बनने के समय पाटलिपुत्र नगर उतना विशाल न रहा होगा जितना वह उसके समय में हो गया। कौटिल्य का दिया वर्णन पहले के पाटलिपुत्र को लागू होता था। जैसे जैसे वह विस्तृत होने लगा होगा वैसे वैसे श्रमविभाग की आवश्यकता पड़ी होगी। नागरक और स्थानिक रहे ही होंगे, परन्तु बड़े विशाल नगर में अनेक कार्यों के सम्पादनार्थ अनेक कर्मचारियों की आवश्यकता भी पड़ी होगी, एक ही कार्य या समान कार्यों के लिए जो कर्मचारी थे, वे आपस में मिलजुल कर काम और सलाह-मसलहत करते रहे होंगे। इस कारण मेगेस्थनीज़ को ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक है कि नगर का प्रबन्ध 'बोर्डों' के द्वारा होता था। विन्सेण्ट स्मिथ ने यह कहीं नहीं बतलाया कि इन सारे बोर्डों के ऊपर कोई अधिकारी था या नहीं। हम समझते हैं कि ऐसा अधिकारी ज़रूर रहा होगा। अन्त में सारे प्रबन्ध की ज़िम्मेदारी किसी भी व्यवस्था में एक मनुष्य पर ही

रखनी पड़ती है। सारे जगत् का इतिहास इस तत्त्व का साक्षी है। शासन का काम रुकने न पावे यानी कोई आलस्य या प्रमाद न करने पावे और भिन्न भिन्न विभाग आपस में न झगड़ने पावें, इसके लिए एक सर्वोच्च अधिकारी की आवश्यकता होती है। चन्द्रगुप्त का राज्य अच्छा चला और विन्सेण्ट स्मिथ ने उसकी काफ़ी तारीफ़ की है। क्या यह राज्य-शासन नगर में बिना सर्वोच्च अधिकारी के रहे ही सम्भव हुआ होगा? आज-कल भी म्युनिसिपल बोर्ड को प्रेसिडेण्ट की आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में हमें मानना पड़ता है कि नगर के प्रबन्ध के इन सब बोर्डों के ऊपर 'नागरक' रहा होगा। इतना ही नहीं, हमारा तो यह अनुमान है कि इन बोर्डों के सदस्य स्थानिक या ऐसे ही अन्य कर्मचारी रहे होंगे और वे सरकारी नौकर थे। अन्तिम बात विन्सेण्ट स्मिथ ने अपने ग्रंथ में लिखी ही है। इसलिए चन्द्रगुप्त-कालीन नगर-व्यवस्था के बोर्डों की तुलना आजकल के म्युनिसिपल बोर्डों से नहीं की जा सकती। इन दो कालों के बोर्डों में तत्त्व का एक भारी भेद है। आजकल के बोर्डों के सदस्य बहुधा चुने हुए होते हैं, उस समय के सदस्य सरकारी कर्मचारी होते थे। परन्तु विन्सेण्ट स्मिथ ने 'म्युनिसिपल' शब्द का उपयोग किया है, इस कारण उसके ग्रंथ के पाठक उसके वर्णन से सदा यही सोचते हैं कि चन्द्रगुप्त के पाटलिपुत्र में आजकल के समान 'स्थानीय स्वराज्य' था। अब हमारे पाठक देख सकते हैं कि

कौटिल्य की दी हुई व्यवस्था और मेगेस्थनीज की नगर-व्यवस्था के वर्णन में विशेष भेद नहीं है। विशाल नगरी में श्रम-विभाग की, कर्मचारियों की संख्या बढ़ाने की तथा सहकारिता की आवश्यकता पड़ने से उन्हें बोर्डों का स्वरूप मिलना स्वाभाविक था, परन्तु स्मरण रहे कि वे सदैव सरकारी कर्मचारी ही रहे। नगर-शासन के लिए कौटिल्य ने जो नियम दिये हैं वे भी चन्द्रगुप्त के समय अधिकांश में पाये गये होंगे, क्योंकि कोई भी नियामक वस्तुस्थिति को छोड़ कर नितान्त नई बातों की कल्पना नहीं कर सकता। अन्य बातों के समान कौटिल्य की यह व्यवस्था भी उस समय की वस्तुस्थिति का निदर्शक ही है।

अध्याय ६

भिन्न भिन्न विभाग और उनके अध्यक्ष

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का सामान्य स्वरूप बतलाते समय हमने राज्य-शासन के अनेक विभागों के तथा उनके सर्वोच्च अधिकारियों के नाम बतलाये थे। अब हम उन विभागों तथा उनके सर्वोच्च कर्मचारियों के अधिकारों और कर्तव्यों का विशेष विवेचन करेंगे।

'सन्निधाता' का वर्णन सबसे पहले आया है। सन्निधाता का अर्थ होता है सदैव पास रहनेवाला। और इसी

कारण इसका यहाँ अर्थ हो सकता है राजा का शरीर-रक्षक। यही अर्थ श्रीशामशास्त्रीजी ने भी किया है । परन्तु आश्चर्य यह है कि उसके अधिकारों अथवा कर्तव्यों में राजा के शरीर-रक्षक के कर्तव्यों अथवा अधिकारों का नामोल्लेख भी नहीं है। इसलिए इस शब्द का कुछ दूसरा ही अर्थ होना चाहिए। यह जानने के लिए उसके कर्तव्यों का उल्लेख करना होगा । सर्वप्रथम यह बतलाया है कि सन्निधाता कोशगृह, पण्यगृह (व्यापार का गृह), कोष्ठागार (अनाज रखने का स्थान) और कुप्यगृह (जङ्गली चीज़ें रखने का स्थान) बनवावे। आगे इन गृहों के बनाने के नियम दिये हैं। 'वर्षमान' यानी वर्षा नापने के बर्तन की स्थापना करने का काम उसी का था। पुराने नये रत्न तथा अन्य पदार्थ आने पर रखने का काम उसी का था। उसका काम था कि वह देखे कि असली सिक्के ही सरकार में जमा होते हैं। जाली सिक्कों को वह काट दे सकता था। साफ़ नया अनाज न दिया जाय तो वह जुर्माना कर सकता था। आगे बतलाया है "तस्मादाप्तपुरुषाधिष्ठितः सन्निधाता निचयानानुतिष्ठेत्" । इसका श्री शामशास्त्री ने यह अनुवाद किया है कि सन्निधाता विश्वासपात्र पुरुषों की सहायता लेकर लगान वसूली का काम देखे (shall attend to the business of revenue collection)। हमारी मति में ऊपर दिये वाक्य का यह अर्थ पूर्णतया ठीक नहीं कहा जा सकता। यहाँ कहा है 'निचयानानु-

तिष्ठेत्'। इसका अर्थ होना चाहिए 'संग्रह की देख भाल (यानी रक्षा) करें'। लगान वसूली का काम तो 'समाहर्ता' का बतलाया है। जो कुछ वसूली आवे, उसको लेकर रखने का काम सन्निधाता का देख पड़ता है। क्योंकि ठीक आगे कहा है कि सौ वर्ष की सब आमदनी और ख़र्च का हिसाब उसकी ज़बान पर रहना चाहिए। सारांश में यह कह सकते हैं कि राज्य के धन-द्रव्य की देख-भाल का सर्वोच्च अधिकारी 'सन्निधाता' था। इसी को आजकल की भाषा में ख़ज़ानची (treasurer) कह सकते हैं।

ऊपर बतला चुके हैं कि लगान वसूली का काम समाहर्ता का था। उसका काम बतलाने के बाद आय और व्यय के नाना प्रकार के मार्ग बतलाये हैं। फिर बतलाया है कि 'करणीय', 'सिद्ध', 'शेष', आय, व्यय और 'नीवी' पर उसे ध्यान देना चाहिए। राज्य का काम चालू रखने का कार्य, प्रचार (गुप्तचर भेजने का कार्य), शरीरोपयोगी आवश्यक सामग्री एकत्रित करने का कार्य, सब प्रकार की आमदनी की वसूली तथा हिसाब-जाँच का कार्य 'करणीय' कार्यों में शामिल हैं। जो कोश में जमा हो चुका हो, जो राजा ले चुका हो, राजधानी के लिए जो कुछ ख़र्च हो चुका हो परन्तु हिसाब के दफ़्तरों में लिखा न गया हो, एक साल पहले से जो (ख़र्च) चालू हो, मौखिक राजाज्ञा से जो ख़र्च हुआ हो अथवा दफ़्तर में दाख़िल करने के लिए कहा गया हो वह सब सिद्ध (कार्य)

है। लाभकारी कार्यों की योजना, दण्डशेष, बकाया की वसूली 'शेष' (कार्य) हैं। इसके बाद आय के तीन भेद किये हैं : (१) वर्तमान (२) पर्युषित और (३) अन्यजात। प्रतिदिन जो आय होती है, वह 'वर्तमान' कहलाती है। एक साल पहले की बचत, जो (द्रव्य) कुछ दूसरों को दिया गया हो और जो कई हाथों में पहुँच चुका हो, वह आय पर्युषित यानी बचत कहलाती है। कोई यदि कहीं कुछ भूल जाय, सरकारी नौकरों का जुर्माना, पार्श्व (साधारण आय-मार्गों से अनुमान की अपेक्षा होनेवाली अधिक आय), क्षतिपूर्ति (पारिहीणिक), नजराना (औपायनिक), संक्रामक रोगों से मरे हुए लोगों की लावारिस जायदाद और ज़मीन में गड़ा हुआ द्रव्य अन्यजात (आकस्मिक) आय हैं। इसके बाद व्यय रोकने के और आय बढ़ाने के उपाय बतलाये हैं। विक्षेप (किसी लाभकारी काम में द्रव्य लगा देना), कोई काम प्रारम्भ करने पर (सिद्ध न होने से) बीच में ही बंद कर देना, अथवा अनुमान से कम ख़र्च करना व्यय-प्रत्यय यानी व्यय रोकने के मार्ग हैं। चीज़ों की क़ीमत बढ़ जाने से होनेवाली आमदनी, नाप-तौल में फ़र्क़ हो जाने से होनेवाला लाभ, व्याजी* और बाज़ारू होड़ के कारण होनेवाली वृद्धि आय (वृद्धि) के मार्ग हैं। उस समय भी ख़र्च के दो भेद थे। एक दैनिक (यानी जिससे भविष्य में आमदनी

---

* लवणाध्यक्ष के कर्तव्यों के वर्णन में पृष्ठ ७९ पर इस शब्द का अर्थ देखिए।

होने की आशा न हो) और लाभोत्पादिक (यानी जिससे भविष्य में लाभ होने की आशा हो) । सब खर्च घटा देने पर और होनेवाली अथवा अभी हाल में हुई आमदनी को मिला कर जो रोकड़ निकलती थी उसे 'नीवी' कहते थे । यह स्पष्ट ही है कि कोई भी शासन अच्छा चले इसके लिए यह आवश्यक है कि किया हुआ खर्च और होनेवाले खर्च तथा हुई आमदनी और होनेवाली आमदनी पर आमदनी के प्रधान अधिकारी का लक्ष रहना चाहिए । समाहर्ता के विषय में अब एक दो बातें और बतलाने की हैं । नागरक (यानी नगराध्यक्ष) के कर्तव्यों में बतलाया है, 'समाहर्तृवन्नागरको नगरं चिन्तयेत्' समाहर्ता के समान ही नागरक को नगर की चिन्तना (यानी व्यवस्था) करनी चाहिए । इस विषय का वर्णन हम पहले कर ही चुके हैं । वहाँ पर यह बतला चुके हैं कि जनपद का आय की दृष्टि से कैसा विभाजन और प्रबन्ध करना चाहिए । समाहर्ता के वास्तविक कार्य वहीं बतलाये गये हैं । वहीं पर जान पड़ता है कि वह राज्य की आय का असली अधिकारी है । जैसा पाठक अभी देख चुके हैं, इस प्रकरण में तो बहुत छोटी छोटी बातें बतलाई गई हैं ।

इसके बाद गाणनिक्य (यानी हिसाब-किताब के सर्वोच्च अधिकारी) के काम का वर्णन है । उसके विभाग के अलग अलग स्थान रहें और हिसाब की किताबें वहाँ रखी जावें । प्रत्येक

विभाग के हिसाब की किताबें अलग अलग रहें। कारख़ानों (कर्मान्त) में जो काम चलता हो और जो हो चुका हो; जो कुछ लाभ, हानि, व्यय, प्रयाम (जो आमदनी देरी से हो), व्याजी प्राप्त हो; सरकारी नौकरों के दर्जे, वेतन, विष्टि (यानी कर के बदले सरकारी काम करने) का प्रमाण आदि जो जितना हो; रत्नों और अन्य चीज़ों की तादाद, उनके भाव, परिवर्तन के भाव, तौल, आकारादि जो कुछ हो; देश-जाति-कुल-सङ्घात* के धर्म-व्यवहार-चरित्र-संस्थान जो हों; राज-दरबारियों के प्रग्रह (दानादि के लाभ), प्रदेशभोग (जितनी ज़मीन किसी को राजा की ओर से किसी कारण मिली हो), परिहार (कर की मुआफ़ी), भक्त (उनको मिलनेवाली सामग्री), वेतन जो कुछ हो; राजा के पुत्रों और पत्नियों को रत्न, भूमि, और अन्य लाभ जो जितने मिलने के हों; मित्र और शत्रु से की हुई संधियाँ और उनसे देने लेने का जो कुछ हो, उन सबका हिसाब पुस्तकों में रहे। हिसाब का समय आषाढ़ का महीना था। कौटिल्य ने कहा है कि जो लोग समय पर हिसाब न दें अथवा बची बचाई रक़म हिसाब की अपनी किताबों के साथ न दें, उनका इस रक़म का दस गुना जुर्माना किया जाय। इस वर्णन से यह स्पष्ट

* किसी कार्य के लिए कुछ लोगों का जो समाज सङ्गठित होता है वह सङ्घात कहलाता था। अँग्रेज़ी में इसे company, association या corporation कह सकते हैं।

होता है कि हिसाब-किताब का काम उस समय आजकल के काम से किसी प्रकार कम दर्जे का नहीं था। हिसाब-किताबवालों का यह भी कर्त्तव्य था कि किस विभाग में क्या काम चला है, कितना बाक़ी है, क्या करने का है, कितनी आमदनी हुई और कितना ख़र्च हुआ, कितनी रोकड़ बाक़ी है, इत्यादि सब बतला सकें। आषाढ़ में हिसाब-किताब देना पड़ता था। इससे ऐसा जान पड़ता है कि श्रावण से आषाढ़ तक सरकारी साल गिना जाता था। इसी प्रकरण में एक और उल्लेख इस अर्थ का है कि काम का वेतन आषाढ़ के अन्त में देना होगा। इससे भी वही बात सिद्ध होती है। सब महामात्रों को अपने अपने विभाग के हिसाब-किताब बतलाने आने की आवश्यकता थी। हिसाब-किताब समय पर न देनेवालों के लिए अनेक प्रकार के दण्ड बतलाये हैं। हिसाब-किताब जाँचने का काम प्रतिदिन, फिर पाँच दिन में, एक पक्ष में, एक महीने में, चार महीने में और फिर साल भर में होना चाहिए यानी इन समयों पर हिसाब-किताब का मिलान किया जाता था। आय कहाँ से, किससे, किसके द्वारा, किस रूप में हुई, पहले की या अब की है, किस अधिकारी के द्वारा निश्चित हुई थी, और किसने जमा की, इत्यादि बातों की ओर ख़याल देकर आय की जाँच होनी चाहिए। इसी प्रकार ख़र्च की जाँच का भी नियम बतलाया है। हिसाब-किताब किस प्रकार रखा जाय इसके भी

नियम निश्चित थे। नियमों के अनुसार हिसाब-किताब न रखनेवाले का या दो-तीन बार वही वही लिखनेवाले का या अनजाने कुछ तो भी लिखनेवाले का या मीज़ान काट-कूट करने वाले का जुर्माना होना चाहिए। जो कोई इस देश के प्राचीन हस्तलिखित काग़ज़ देख चुका है वह जानता है कि इस देश में कुछ भी लिखने का काम कितनी सफ़ाई से और कितनी परवाह के साथ किया जाता था। फिर सरकारी हिसाब-किताब के लिए इतने कड़े नियम हों तो कोई आश्चर्य नहीं। हिसाब-किताब के नियमों को देखकर कोई भी यह जान सकता है कि इस देश के शासन-कार्य के नियम कितने कड़े थे। कोई इस पर यह कहे कि यह सब कौटिल्य की कोरी कल्पना थी। प्रत्यक्ष व्यवहार में ये नियम न आये होंगे। इस पर हमारा यह नम्र निवेदन है कि प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति को छोड़कर नितान्त नई कल्पना तो कभी होती ही नहीं। फिर कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' कुछ उपन्यास है नहीं। हम मानते हैं कि उसके कथन में कुछ बातें उसकी निजी होंगी। परन्तु यह भी मानना होगा कि बहुतेरी बातें उसने उस समय के समाज से ही ली होंगी। यह मानना ही होगा कि इस ग्रंथ में उस समय के समाज और देश-स्थिति का बहुत कुछ सच्चा चित्र है।

आगे खनिज पदार्थों के कार्यों का वर्णन है। आकराध्यक्ष (खनिज पदार्थों के अधिकारी) को ताँबा और दूसरी

धातुओं का शास्त्र जानना चाहिए, पारा अलग करते आना चाहिए तथा रत्नों की परीक्षा जाननी चाहिए। इसके बाद यह बतलाया है कि कौन सा खनिज पदार्थ कैसे स्थानों में मिलने की संभावना है। गलाने की कुछ रीतियाँ भी बतलाई हैं। खनिज पदार्थों की बनी चीज़ों का व्यापार निश्चित स्थानों में होना चाहिए। अन्य स्थानों में उनका लेन-देन करनेवाले दण्डनीय हों। खनिज पदार्थ की चोरी करनेवाले तो दण्डनीय होते ही थे, परन्तु इजारे के बिना खनिज पदार्थ खोदनेवाले भी दण्ड के पात्र होते थे। जिन खानियों से बर्तनों की धातुएँ निकलें या जिनको खोदने के लिए बहुत ख़र्च पड़ने की संभावना रहे, उनको खोदने का कुछ हिस्सा या पूरा अधिकार निश्चित लगान की शर्त पर दूसरों को इजारे से दे दिया जाय। जिनमें ख़र्च कम लगे, उनको खोदने का काम सरकार ख़ुद करे। सोने और चाँदी को छोड़ शेष धातुओं के लिए एक अलग लोहाध्यक्ष होता था। ताँबा, शीशा, टिन, वैकृन्तक, पीतल, वृत्त (?), काँसा, ताल और लोध्र और उनसे बननेवाली चीज़ों के कारख़ाने का काम उसके जिम्मे था। मुद्रा (सिक्के) बनाने के लिए एक अलग 'लक्षणाध्यक्ष' रहता था। और सिक्कों को जाँचने का काम रूपदर्शक के हाथ में था। शङ्ख, वज्र, मणि, मुक्ता, प्रवाल, क्षार आदि के लिए एक खन्यध्यक्ष था और उनके संग्रह के लेन-देन के नियन्त्रण का काम उसके हाथ में था। जान पड़ता है कि यहाँ 'क्षार' में मामूली निमक

सम्मिलित नहीं था, क्योंकि 'लवणाध्यक्ष' अलग ही था। निमक के जम जाने पर उसका कर तथा सरकारी हिस्सा जमा करने का काम इसके अधीन था। जान पड़ता है कि सरकारी माप लोगों के मापों से पाँच सैकड़ा बड़े होते थे। क्योंकि निमक का सरकारी हिस्सा इकट्ठा होने पर लवणाध्यक्ष को बेचना पड़ता था और उसकी नक़द क़ीमत मामूली क़ीमत से पाँच सैकड़े अधिक (यानी व्याजि) वसूल करने का काम उसके जिम्मे था। आगन्तु लवण (आज कल की भाषा में, आयात लवण) का एक षष्ठांश राजा को कर के रूप देना पड़ता था। इसको भी बेंचने पर पाँच सैकड़ा अधिक क़ीमत (यानी व्याजि) मिलनी चाहिए। ख़रीददारों का कर्तव्य था कि वे शुल्क तो देंही, पर राजा को वैधरण (बाहर से निमक आने के कारण यहाँ के व्यापार को और उसके कारण राजा की प्राप्ति को होनेवाली हानि की पूर्ति) दें। निमक बनाने का काम भी इजारे से दिया जाता था। श्रोत्रिय, तपस्वी तथा मजदूर लवण निःशुल्क ले जा सकते थे। शेष सबको शुल्क देना पड़ता था।

इसके बाद सुवर्णाध्यक्ष के काम बतलाये हैं। सोने-चाँदी के काम के लिए वह 'अक्षशाला' (सुनार की दूकान) बनवावे। वह प्रधान मार्ग पर रहे और वहाँ 'शिल्पवान्', कुलीन और अनुभवी सुनार रखा जावे। इस उल्लेख से, इसके बाद 'सौवर्णिक' के कार्य आने से, तथा पदवी की दृष्टि से

यही कहना पड़ता है—तोभी यह बात बिलकुल स्पष्टतया कही नहीं गई है—कि 'सौवर्णिक' 'अध्यक्ष' के मातहत था। सुवर्णाध्यक्ष तथा सौवर्णिक के प्रकरणों में बहुत विस्तार-पूर्वक यह बतलाया है कि कहाँ कहाँ सोना निकलता था, कहाँ का सोना कैसा होता था, उत्तम किसे कहना चाहिए, उसकी परीक्षा कैसे करनी चाहिए, सोने-चाँदी के कामों में क्या धोखा हो सकता है, आवश्यकतानुसार दूसरी चीज़ों के साथ सोने-चाँदी का मिश्रण कैसे करना चाहिए, इत्यादि इत्यादि। इन बातों का यहाँ वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। सौवर्णिक का काम था कि लोग जो सोना-चाँदी लावें, उसके सिक्के बनवा दे* और उसे बतलाये हुए दूसरे काम भी करे। उसके हाथ के नीचे कई कारीगर रहते थे। 'जो कोई सौवर्णिक (यानी राजसौवर्णिक) के बिना जाने दूसरे स्थान में सोने-चाँदी का काम करवावेगा, उसका बारह 'पण' दण्ड

* हम ऊपर बतला चुके हैं कि मुद्रा यानी सिक्के बनाने के लिए एक 'लक्षणाध्यक्ष' अलग था। फिर प्रश्न हो सकता है कि वही काम 'सौवर्णिक' को भी कैसे सौंपा जा सकता है? हमारी समझ में दो संभावनायें इस स्थिति में उत्पन्न होती हैं। एक तो यह कि इस काम के लिये 'सौवर्णिक' केवल कर्मचारी था और 'लक्षणाध्यक्ष' उसका अधिकारी था। दूसरे, 'लक्षणाध्यक्ष' के मातहत सौवर्णिक था अवश्य परन्तु 'लक्षणाध्यक्ष' राजा की ओर से सिक्के बनाता था, तो 'सौवर्णिक' लोगों के लाये सोने-चाँदी के सिक्के बनाता था। हमें तो इस वाक्य से दूसरी बात ही अधिक संभव जान पड़ती है।

होगा और करनेवाले का (यदि मिल जाय तो) उसका दुगना दण्ड होगा । मूलसंस्कृत वाक्य है—"सौवर्णिकेनादृष्टमन्यत्रवा प्रयोगं कारयतो द्वादशपणो दण्डः कर्तुर्द्विगुणः सापसारश्चेत् ।" यहाँ पर 'प्रयोग' शब्द का अर्थ अत्यन्त महत्त्व का है । इस प्रकरण में सिक्कों के बनाने के काम का ही वर्णन है । इसलिए 'प्रयोग का अर्थ होना चाहिए 'सोने-चाँदी के सिक्के बनाना ।' अन्य कामों के लिए बंधन की आवश्यकता नहीं, और न कर ही सकते हैं । लोग यदि गहने बनवावें और उसमें यदि वे धोखा खावें तो राज्य का प्रत्यक्ष नुकसान नहीं होता । और न इतने लोगों के कार्यों की देखरेख ही एक सौवर्णिक कर सकता है । सिक्कों की बात भिन्न है । सिक्के सरकार से सम्बन्ध रखते हैं । इसलिए यह आवश्यक है कि वे अमुक आकार के, अमुक वजन के, अमुक भार के सोने-चाँदी के, अमुक मिश्रण के, अमुक छाप के बनें ताकि राज्य को नुक़सान न हो । इसलिए यह उचित है कि सिक्कों पर राज्य के बंधन रहें । यही बात इस वाक्य में बतलाई है । सारांश, उस समय भी सिक्के बनाने का काम प्रधानतः राज्य का था । हमने 'प्रधानतः' कहा है । इसका कारण है 'अदृष्टमन्यत्रवा'—'बिना देखे या दूसरे स्थान पर ।' यहाँ यह नहीं कहा है 'अदृष्टमन्यत्र च'—बिना देखे और दूसरे स्थान पर । इससे यह अनुमान निकलता है कि दूसरे भी स्थानों पर सिक्के बन सकते थे, परन्तु उन्हें राज्य के सौवर्णिक को दिखलाना

आवश्यक था और यह ऊपर बतलाये कारणों को देखते उचित है। सब सिक्के एक सरीखे रहें इसके लिए यह बात आवश्यक ही थी। ऊपर बतलाये संस्कृत-वाक्य से ऐसा पता लगता है कि उस समय एक ऐसे अर्थशास्त्रीय तत्त्व का चलन था जिसे आज सारे सभ्य संसार में मानते हैं और चलाते हैं पर हिन्दुस्तान जैसे कुछ देशों में अमल में नहीं है। वह यह है कि लोग अपना सोना-चाँदी लाकर सरकारी टकसाल में उसके सिक्के बनवा सकें। इतना ही नहीं बल्कि जैसा ऊपर कह चुके हैं, राज्य के सौवर्णिक से जँचवा लेने की शर्त पर दूसरे भी लोग लोगों के सोने-चाँदी के सिक्के बना सकते थे। तराजू और वजन के अधिकारी से ये चीज़ें लेनी होती थीं, अन्यथा बारह पण दण्ड होता था। इस वाक्य से तथा 'पौतवाध्यक्ष' के कर्तव्यों से यह कह सकते हैं कि तराजू, वजन आदि सरकार बनवाती थी और उनपर उसका यथेष्ट नियंत्रण था। एक वाक्य से यह बात बहुत स्पष्ट होती है—"प्रातिवेधनिकं काकणीकमहरहः पौतवाध्यक्षाय दद्युः"—मापभार पर (सरकारी) छाप लगाने के लिए 'पौतवाध्यक्ष' को एक काकणीक रोज़ देनी चाहिए।

राज्य के कोठीघर का अधिकारी 'कोष्ठागाराध्यक्ष' कहलाता था। खेती से, देहात से कर रूप में मिलनेवाले नाना प्रकार के पदार्थ, उधार लिया हुआ या (लोगों से) माँगा हुआ अनाज, (वस्तुओं का) परिवर्तन, धान से चावल,

बीज से तेल आदि का बनाना, (कर-रूप में मिलनेवाले पदार्थों का) बकाया वसूल करना, लोगों के रखे हुए पदार्थ इत्यादि-इत्यादि इसके हाथ में थे। उसे यह मालूम रहे कि कितने प्रकार के कितने कितने पदार्थ इकट्ठा होना चाहिए। इसके लिए पदार्थ-रूप में मिलनेवाले नाना प्रकार के करों का वर्णन इसी प्रकरण में दिया है। और इस कारण वस्तुओं का ख़ासा वर्गीकरण यहाँ दिया गया है। जहाँ जिस काम के लिए ये चीज़ें लगें, वहाँ वे चीज़ें देना उसी का काम था। इसी कारण यहाँ यह भी दिया है कि किस चीज़ से उसका कितना 'सार' (उदाहरणार्थ, धान से चाँवल, बीज से तेल, आदि) निकलता है, अथवा किस चीज़ को पकाने से या भिगोने से वह कितनी गुनी बढ़ जाती है। इतना ही नहीं बल्कि बच्चे को, स्त्री को, पुरुष को, भिन्न भिन्न जानवरों को कितना कौन सा खाद्य-पदार्थ देना चाहिए, यह भी यहीं बतलाया है। उसके इन कामों के लिए जिन अन्य वस्तुओं तथा मनुष्यों की सहायता आवश्यक होगी उनके नाम भी बतलाये हैं। इतनी खुलासेवार बातें क्वचित् ही पुस्तकों में देखने को मिलेंगी।

पण्याध्यक्ष के हाथ में व्यापार की देख रेख थी। उसका काम था कि वह भिन्न भिन्न वस्तुओं की माँग है या नहीं, भाव उतरते या चढ़ते हैं यह जाने। वह यह भी जाने कि विक्षेप (वस्तुओं को भिन्न भिन्न स्थानों में भेजने) का, संक्षेप

(एकत्र करने) का, क्रय और विक्रय का तथा प्रयोग (एक वस्तु से दूसरी वस्तु बनाने) का समय जाने। जो वस्तुएँ ठौर ठौर में बिखरी हों उन्हें एकत्र करे और उनकी क़ीमत बढ़ावे। जब लोग इस क़ीमत पर लेन-देन करने लगें तो दूसरी क़ीमत रखी जाय यानी भाव पुन: बढ़ाया जाय। राजा की निजी ज़मीन से पैदा होनेवाली बिक्री की चीज़ें एकत्र की जावें। दूसरे देशों से आई हुई चीज़ें अनेक स्थानों में भेजी जावें। इस प्रकार, दोनों प्रकार की चीज़ों को लोकहित की दृष्टि से बेचना चाहिए। लाभ कितना ही अधिक क्यों न हो सके, परन्तु यदि उससे प्रजा को नुकसान हो तो उसके लिए प्रयत्न करना उचित न होगा। जिन चीज़ों की माँग सदैव बनी रहती है, उनके विक्रय के लिए कोई बंधन रखना ठीक नहीं। और न वे एक ही स्थान पर इकट्ठा की जावें। अध्यक्ष को चाहिए कि 'परभूमि' से आनेवाली चीज़ों पर 'अनुग्रह' करे। नाविक तथा 'परभूमि' से चीज़ें लानेवाले आयात कर से बरी किये जायँ ताकि उन्हें कुछ लाभ हो सके। आगन्तुक लोगों (यानी परभूमि के व्यापारियों) पर रुपये-पैसे के मुक़द्दमें न चल सकें। यदि वे इसी भूमि के संघ या श्रेणि के 'सभ्य' (सदस्य) अथवा किसी मनुष्य के भागीदार रहें तो बात अलग है। जो राजा की पण्य वस्तुएँ बेचें, वे दिन के अष्टम भाग में यानी ६ बजे के बाद 'इतना बिका इतना बचा' यह बात बताकर अपना हिसाब 'पण्याध्यक्ष'

को दें और साथ ही वजन तराज़ू आदि भी वापस कर दें। 'स्वविषय' यानी निज देश के व्यापार के ये नियम हैं। फिर, 'परविषय' यानी विदेश में व्यापार करने के नियम बतलाये हैं। पण्याध्यक्ष को चाहिए कि वह इस बात का पता लगावे कि सब ख़र्च और विदेशीय राजा के सब कर के भुगतान के बाद चीज़ों को वहाँ बेचने से कुछ लाभ होगा या नहीं। यदि बिक्री से लाभ होने की आशा न हो तो वह यह देखे कि परिवर्तन से लाभ होगा या नहीं। फिर, वह अपनी चीज़ों का एक चतुर्थांश स्थल-मार्ग से (विदेश के भिन्न भिन्न बाज़ारों में किसी व्यापारी के साथ) भेजे।...... अथवा वह 'नदीपथ' से चीज़ें भेजे। रास्ते में क्या ख़र्च लगेगा, यात्रा का काम कहाँ कब है, और किस शहर का क्या इतिहास है, इत्यादि बातों का पता लगाना भी उसका काम है। सारांश में कह सकते हैं कि आजकल के 'हाई-कमिश्नर' और व्यापार-मन्त्री का काम तो पण्याध्यक्ष करता ही था, परन्तु वह राजा और राज्य का व्यापारी भी था।

जङ्गल की चीज़ों के अध्यक्ष को वे चीज़ें एकत्र करनी चाहिए। उसका यह भी काम था कि इन चीज़ों को हानि से बचावे और उनसे बननेवाली चीज़ों के कारख़ाने खोले। इसके बाद जङ्गल की लकड़ियों और अन्य चीज़ों के तथा उनसे बननेवाले पदार्थों के नाम दिये हैं। जीवनोपयोगी

पदार्थों के ही नहीं बल्कि युद्धोपयोगी पदार्थों के (जङ्गल की चीज़ों से बननेवाले पदार्थों के) कारख़ाने खोले।

आयुधागाराध्यक्ष का काम था कि लड़ाई के दुर्ग बनाने के तथा उसके बचाव के तथा शत्रु के शहर या दुर्गों पर आक्रमण करने के सब शस्त्र और उपकरण बनावे। और इसके लिए निश्चित समय में निश्चित काम करनेवाले प्रवीण कारीगर नियत करे। इन सब चीज़ों के लिए जो स्थान बना हो, वहाँ उन्हें रखे। उन्हें समय समय पर साफ़ करवावे, उनका स्थान बदले तथा उन्हें धूप में भी रखे। जिन वस्तुओं को उष्णता, भाप तथा कीड़े-मकोड़ों से डर हो, उन्हें बहुत सुरक्षित स्थान में रखे। भिन्न भिन्न दृष्टि से उनकी समय समय पर जाँच-पड़ताल भी करनी चाहिए।

इसके बाद 'तुलामान-पौतव' यानी माप-भारादि के अधिकारी के कर्तव्य दिये हैं। हम पहले ही बतला चुके हैं कि राज्य की ओर से माप-भारादि बनाये जाते थे और यह काम इस अधिकारी के जिम्मे था। इस प्रकरण में भिन्न भिन्न मापों और अंशों तथा तराजुओं के नाम दिये हैं और उनकी बुराई-भलाई भी बतलाई है। बिना छाप के वजन या माप उपयोग में लाने पर २७¼ पण दण्ड करना चाहिए। हम यह बतला ही चुके हैं कि छाप लगाने के लिए एक काकणीक रोज 'पौतवाध्यक्ष' को देनी चाहिए। लोगों को धोखे से बचाने के लिए एक बड़े महत्त्व का काम सरकार के जिम्मे रखा गया है।

'मानाध्यक्ष' का कर्तव्य था कि 'देश' और 'काल' का 'मान' जाने। इसी प्रकरण में 'देश' और 'काल' का 'मान' भी बतलाया है।

इसके बाद दो प्रकरणों में 'शुल्काध्यक्ष' और 'शुल्क' के नियम बतलाये हैं। शुल्क को आजकल की भाषा में विदेशीय माल पर अथवा नगर में आनेवाले माल पर चुंगी (customs and octroi duties) कह सकते हैं। शुल्काध्यक्ष नगर के 'महाद्वार' के पास उत्तर या दक्षिण की ओर के मुँह से शुल्कशाला बनावे और ध्वजा रोपित करे। जब माल लेकर कोई आवे तो चार पाँच लोग मिलकर ये सब बातें लिखें कि वे कौन हैं, कहाँ से आये, क्या और कितना माल वे लाये हैं और 'अभिज्ञान-मुद्रा' कहाँ की गई थी। जैसा एक वाक्य से अनुमान निकलता है, 'अभिज्ञान-मुद्रा'* क्या और कितना माल है इस बात का कदाचित् परिचायक होगी। जिनके माल पर यह मुद्रा न हो, उनसे दुगना शुल्क लेना चाहिए। यदि मुद्रा जाली हो तो आठ गुना शुल्क मालवाले से लेना चाहिए। यदि वह मिट या टूट गई हो तो मालवालों को 'घटिकास्थान'† में रखना चाहिए।

---

* ८६ पृष्ठ की पादटिप्पणी देखिए।

† बेवक्त सड़क पर चलनेवालों को जहाँ रखते थे वह घटिकास्थान कहलाता था। व्यापारियों के लिए शायद यह स्थान 'शुल्कशाला' के पास ही रहा हो।

'राजमुद्रा' परिवर्तित करने के लिए अथवा एक चीज़ के बदले दूसरी चीज़ का नाम बतलाने के लिए प्रत्येक गट्ठे पीछे १½ पण दण्ड होना चाहिए। माल को शुल्कशाला की ध्वजा के पास रखकर मालवाले वह कितना है किस दाम का है यह बतलाकर तीन बार बोलें, "यह इतना माल इस दाम में लेने को कौन तैयार है?" जो वह दाम देने को तैयार होगा उसे वह माल (उस दाम में) देना होगा। यदि विक्रेताओं में उसके लेने की होड़ लग जाय और इस कारण माल के दाम बढ़ जावें तो यह अधिक मूल्य और माल का शुल्क राज-कोश में जमा होगा। यदि शुल्क के डर से व्यापारी अपने माल की क़ीमत अथवा माल का प्रमाण ही कम बतलावें तो जो कुछ अधिक निकले वह सरकारी ख़ज़ाने में ज़ब्त हो जावेगा अथवा शुल्क का आठ गुना दण्ड होगा। यदि असली माल से कम दर्जे का नमूना दिखला कर असली माल छिपाया जाय या असली माल को बीच में रखकर उसके चारों ओर कम दर्जे का माल रखा जाय तो अभी बतलाया दण्ड होगा। यदि लेनेवालों की होड़ से दाम बढ़ जाने का डर रहे और इस कारण व्यापारी ख़ुद अपने माल के (वास्तविक दाम से) बहुत दाम बतलावे तो (वास्तविक दाम से) यह अधिक दाम सरकार के यहाँ जमा होंगे अथवा माल पर दुगुना शुल्क देना होगा। यदि शुल्काध्यक्ष (दाम या माल) छुपावे तो उसका भी अभी बतलाया अथवा शुल्क का आठगुना दण्ड होगा। इसलिए माल

की जब तक नाप या तौल या गिनती न हो जावे तब तक वह न बेचा जावे। किस माल पर कम शुल्क लेना है या किसे निःशुल्क छोड़ देना है, इसका अच्छा ध्यान रखना चाहिए। जो लोग शुल्क बिना दिये ही 'ध्वजा' से आगे बढ़ जावें, उनका शुल्क का आठगुना दण्ड करना चाहिए। आने जानेवालों को भी चाहिए कि माल पर शुल्क पटाया है या नहीं इस बात का पता लगावें। विवाह के लिए ली जानेवाली वस्तुएँ, किसी स्त्री को विवाह में मिली हुई और पति के घर को ली जानेवाली वस्तुएँ, या भेंट में देने की वस्तुएँ, या यज्ञार्थ वस्तुएँ, प्रसूति के लिए आवश्यक वस्तुएँ, देवपूजा की वस्तुएँ, मुण्डन के लिए ली जानेवाली वस्तुएँ, उपनयन के लिए ली जानेवाली वस्तुएँ, गोदान, व्रत, दीक्षा की वस्तुएँ या किसी 'क्रियाविशेष' की वस्तुएँ शुल्क से बरी की जावें। यह समझ लेना चाहिए कि उस प्रत्यक्ष क्रिया में लगनेवाली वस्तुएँ ही नहीं बल्कि उनके निमित्त मनाये जानेवाले उत्सवों की वस्तुएँ भी इस सूची में सम्मिलित हैं। इस सूची को देखकर यह कहना ही पड़ता है कि इस बात में आजकल के शासन से उस समय का शासन अधिक आगे बढ़ गया था। झूठी बातें बतलानेवालों को चोरों के समान दण्ड हो सकता था। यदि लोग शुल्क दिये माल के साथ शुल्क न दिया माल ले जावें अथवा मुद्रा किये हुए माल के साथ गट्ठा फोड़ा हुआ माल (बिना शुल्क के)

ले जावें, तो उनका इस (बिना शुल्क के) माल के (दाम के बराबर) दण्ड होगा। जो गोबर लेकर सौगन्ध खाय और इस प्रकार बिना शुल्क के माल ले जाय, उसका सबसे अधिक दण्ड होगा। मना की हुई वस्तुएँ जो लावेगा, उसकी वे वस्तुएँ ज़ब्त होंगी। यदि इनमें से कोई चीज़ बिक्री के लिए लाई जाय तो वे दुर्ग के बाहर ही बिना शुल्क के बेंची जावें। अन्तपाल (यानी सीमा का रक्षक) भी आनेवाले माल पर कुछ कर लेता था और यदि माल गुम हो जाय तो उसे भर देना होता था। बाहर से आनेवाले माल पर अपनी मुद्रा* लगाना और फिर शुल्काध्यक्ष के पास उसे भेजना उसका काम था। राजा का भी काम था कि वह इन बातों का पता लगावे कि कितना कौनसा माल आया और उस पर 'शुल्क' दिया गया या नहीं। (शुल्क देने के डर से) कम दर्जे का माल छुपानेवाले का (शुल्क का) आठ-गुना दण्ड होना चाहिए और उच्च दर्जे का माल छुपाया जाय तो वह ज़ब्त ही करना चाहिए। जिन चीज़ों से हानि होने की संभावना हो या जो निरुपयोगी हों उन्हें न आने देना चाहिए और जो बीज 'महोपकारक' हों, उन्हें 'उच्छुल्क' (बिना शुल्क के) आने देना चाहिए। 'द्वारादेय' नामक एक कर का नाम शुल्क के नियमन के सम्बन्ध में बतलाया

---

* शायद इसी को 'अभिज्ञानमुद्रा' कहा है।

है। वह 'द्वार' पर देना होता था और शुल्क का एक पञ्चमांश रहता था। इस कर का ठीक अर्थ इस प्रकरण में नहीं बतलाया है। परन्तु वर्णन-प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है कि वह आजकल की एक्साइज़ड्यूटी जैसा था। कई चीज़ें ऐसी होती हैं कि जो बननेवाले या पैदा होनेवाले स्थान पर भी बिक सकती हैं। राज्य उन चीज़ों पर शुल्क पाने से वञ्चित न होने पावे, इसलिए यहाँ पर यह बतलाया है कि चीज़ें जहाँ बने या पैदा हों वहीं वे न बेंची जावें। इन पर शुल्क लेने का तरीका यह रहा होगा कि पैदा होनेवाले या बननेवाले स्थान के बाहर आते ही उन स्थानों के द्वार पर शुल्क ले लिया जाता रहा हो। इसी लिए यह बतलाना पड़ा है कि अमुक चीज़ उसके पैदा होने के स्थान पर लेने से इतना दण्ड होगा। इसी कारण 'द्वारादेय' को हमने 'एक्साइज ड्यूटी' कहा है।

बुनी हुई वस्तुएँ बनाने का काम 'सूत्राध्यक्ष' के हाथ में था। कपास का सूत, रेशम, ऊन और दूसरे कई तन्तुओं से मोटे-महीन वस्त्र आदि बनाये जाते थे। ओढ़ने-बिछाने के कपड़े भी बनाने का उल्लेख यहाँ पर है। बेत और बाँस के तन्तुओं से भी चीज़ें बनती थीं। रस्सियाँ, रस्से आदि बनाने का काम भी इसी के जिम्मे था। तन्तुओं से लड़ाई के उपयोगी कोट (वर्म) वग़ैर: भी बनते थे। सारांश में यह कह सकते हैं कि आज तन्तुओं से बननेवाली बहुतेरी चीजें

उस समय भी बनती थीं। एक वाक्य से ऐसा जान पड़ता है कि कभी कभी इन कामों के करनेवालों को छुट्टी भी मिलती थी। उस दिन ख़ास वेतन पर कर्मचारियों से काम लिया जा सकता था। जो स्त्रियाँ घर के बाहर न निकलती थीं, उन्हें घर पर काम दिया जा सकता था।

कृषि के सर्वोच्च अधिकारी यानी सीताऽध्यक्ष को वनस्पति-शास्त्र का ज्ञान होना चाहिए अथवा इस शास्त्र के जानने-वाले लोग उसके सहायक रहें। उसे चाहिए कि वह भिन्न भिन्न प्रकार के अनाज, फूल, फल, शाक, कन्द, मूल, पाल्लीक्य (?), तन्तुवाले झाड़ और कपास के बीज इकट्ठा करे। दास, मजदूर, और (दण्ड के बदले काम करनेवाले) अभियुक्त* लोगों से राजभूमि में वह बीज की बोनी करवावे। अध्यक्ष को यह देखना उचित है कि आवश्यक उपकरण के अभाव के कारण काम में हर्ज न हो। खेती के काम के लिए लोहार, बढ़ई, आदि आवश्यक लोग भी एकत्रित किये जायँ। इसके बाद बतलाया है कि हिन्दुस्थान के किस भाग में कितना पानी गिरता है और कहाँ खेती अच्छी हो सकती है। यहाँ यह भी बतलाया है कि किस समय कौन सी चीज़ बोनी चाहिए। कोई कोई किसान अपने खेत खुद न बोकर उत्पत्ति का आधा हिस्सा पाने की शर्त पर किसी को

* दण्ड-प्रतिकर्ता।

दे देते हैं। इस रीति के वर्णन का भी एक वाक्य इस ग्रन्थ में लिखा हुआ है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि यह रीति उस समय प्रचलित थी और राजभूमि कभी कभी इसी रीति से बोई जाती थी। हाँथ से, या सिर पर ले जाकर, स्रोतयन्त्र (रहट) द्वारा कुएँ से, नदो, सर, तड़ाग, कूप से तथा (कूल्य) नहर से पानी सींचने की रीति उस समय थी। इस पानी के लिए कर देना होता था। वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु के अनुसार केदार, हैमन, और ग्रैष्मिक फ़सलें बोने की बात का उल्लेख यहाँ है। भिन्न भिन्न प्रकार की फ़सल के लिए भिन्न भिन्न तरह की ज़मीन भी बतलाई गई है। औषध के पौधे थमलों (स्थाल्यों) में भी बोने के लिए कहा है। फिर बीज किस प्रकार बोना चाहिए यह सविस्तर बतलाया है। "श्रोत्रिय" और 'तपस्वी' भरपूर बढ़े फूल और फल देवकार्य के लिए और व्रीहि और यव 'आग्रयण' के लिए (वैसे ही) ले जा सकें।"

आजकल के समान उस समय भी आबकारी का विभाग था और उसका अधिकारी 'सुराध्यक्ष' कहलाता था। नगर और देहात में सुरा बेंचने के सिवा लश्करी छावनियों में भी बेचने का आदेश यहाँ पर है। चाहे जो पुरुष सुरा न बना सकता था। बहुधा उसका कारख़ाना राज्य की ओर से था। परन्तु 'उत्सव, समाज और यात्रा' के समय चार दिन सुरा बनाने की परवानगी सबको थी। अरिष्ट, आसव, आदि

औषधियाँ भी 'सुरा' के वर्ग में सम्मिलित थीं। और ख़ास ख़ास मौक़े पर उन्हें बनाने का अधिकार लोगों को दिया जाता था। पहले, इस प्रकार की परवानगी के लिए कुछ पटाना पड़ता था यानी लायसेन्स-फी देनी पड़ती थी। 'लोग ग्राम के बाहर सुरा न ले जावें और दूकानें पास पास न रखी जावें।' मज़दूर अपना काम न बिगाड़ें, आर्य 'मर्यादातिक्रम' न करें, और 'तीक्ष्ण' (साहसी काम करनेवाले) लोग कुछ का कुछ न कर बैठें, इसलिए विश्वासयोग्य और अच्छे आचरण के लोगों को ही परिमित प्रमाण में सुरा दूकान के बाहर ले जाने देना चाहिए। बाक़ी लोग दूकान में ही पियें। चोरी वग़ैरः की कोई चीज़ कोई न लाया हो, इसके जाँच-पड़ताल के लिए उन्हें दूकान के बाहर जल्द न जाने देना चाहिए। यदि उनके पास सोने वग़ैरः के ऐसे गहने निकलें जो उनके न हों तो उन्हें दूकान के बाहर निकलने पर पकड़ना चाहिए। इसी प्रकार फ़िज़ूलख़र्ची अथवा आमदनी के बाहर ख़र्च करनेवाले भी पकड़े जावें। ग्राहक लोग अपनी आमदनी के अनुसार ख़र्च करते हैं अथवा अधिक, और वहाँ कोई 'आगन्तुक' (यानी विदेशीय) तो नहीं है, इन बातों को जानने के लिए वहाँ गुप्तचर रखे जायँ। उनका यह भी काम होगा कि यदि कोई चीज़ दूकान में किसी ने नशे में चूर होकर छोड़ दी हो तो वह किसकी है इसका पता लगावे। इन बातों के वर्णन से यह पता लगता है कि सरकार को लोगों की

भलाई का परिपूर्ण ध्यान था—चाहे जो पुरुष चाहे जितनी सुरा चाहे जहाँ न पी सकता था। सारांश, लोगों के मद्यपान पर आज-कल से उस समय की सरकार का नियन्त्रण बहुत अधिक था।

उस समय भी कुछ लोग मांस खाते थे। इसी कारण मांसादि-विक्रय के नियन्त्रण का काम भी 'अर्थशास्त्र' में बतलाया है। मांस बिकने का स्थान निश्चित रहता था और उसका एक अध्यक्ष रहता था। वह 'सूनाध्यक्ष' कहलाता था। सरकारी या रक्षित वनों में शिकार करना मना था। दूसरे स्थानों में भी चाहे जिस प्राणी की शिकार न कर सकते थे। हिंसक प्राणी की शिकार के लिए अन्य स्थानों में मनाही न थी। शिकार की चीज़ों पर भो शुल्क देना पड़ता था। सदैव ताज़ा मांस बेंचने का आदेश इस ग्रंथ में लिखा है। इस मांस-शाला के बाहर कटे हुए प्राणियों का, अथवा बिना सिर के, बिना पैर के, बिना अस्थि के प्राणियों का अथवा अकस्मात् मरे हुए प्राणियों का मांस अथवा सड़ा मांस बेचने की सख्त मनाही लिखी है। हेतु यह कि मांस खाने से लोगों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे।

एक बात सुनकर पाठकों को आश्चर्य होगा कि गणिकाओं के लिए भी एक अधिकारी कौटिल्य ने बतलाया है। उसका नाम गणिकाऽध्यक्ष है। वह राजदरबार के लिए एक मुख्य गणिका रखे और उसे एक सहस्र पण (वार्षिक) वेतन दे।

इसके आधे वेतन पर एक 'प्रतिगणिका' भी रखे। इनके सिवा कई अन्य गणिकाओं का और उनके वर्गीकरण का उल्लेख यहाँ है। जिनका सौन्दर्य नष्ट हो जाता था या जो अपने काम के योग्य न रह जाती थीं, उन्हें आया का अथवा कोठा-घर का अथवा पाकशाला का काम देने के लिए कहा है। राजदरबार की गणिकायें किसी अन्य मनुष्य से सम्बन्ध जोड़ें तो सरकार को उसे प्रतिमास सवा पण देना चाहिए। गणिकाऽध्यक्ष का काम था कि प्रत्येक गणिका का आय-व्यय आदि का हिसाब जाने और किसी को अति खर्च न करने दे। गणिका (अपना धन्धा छोड़ने का) स्वातन्त्र्य पाना चाहे तो उसके लिए सरकार में उसे २४,००० पण देना होगा और गणिकापुत्र को १२,००० पण उसी के लिए देना होगा। गणिकायें हुईं तो क्या, उनकी इच्छा के विरुद्ध उनका उपयोग करने पर दण्ड होना चाहिए। इसी प्रकार उन्हें आर्थिक अथवा शारीरिक हानि पहुँचानेवाला भी दण्डनीय होना चाहिए। इसके विपरीत, राजा किसी गणिका को कह सके कि अमुक से सम्बन्ध करो। हुक्म न मानने पर वह दण्डनीय होनी चाहिए। इसी प्रकार, अपने प्रेमी को अथवा किसी से द्रव्य लेने पर वह नाहीं न कर सके। गणिकाओं का तथा नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन (baffon), कुशीलव (तमाशगीर), प्लवक (रस्सी पर खेल करनेवाले), सौभिक (juggler) और चारण (घूमते भाट) अपनी अपनी आय

और व्यय गणिकाध्यक्ष को बतलावें। इस प्रकार के लोग यदि विदेश से आवें तो वे सरकार को पाँच पण 'प्रेक्षा-वेतन' दें। ऊपर बतलाये लोगों को यदि कोई शिक्षा दे तो सरकार उन पर अनुग्रह करे। परन्तु गणिकाओं को सरकार में प्रति मास दो दिन की आमदनी देनी होती थी। पाठकों ने देखा होगा कि अन्य हलके धन्धेवालों के साथ ही नटों का भी नाम आया है। इससे यह अनुमान निकलता है कि इस समय तक नाट्य-कर्म बहुत ऊंचे दर्जे का न समझा जाने लगा था। एक स्थान पर तो स्पष्ट कहा है कि गणिकाओं के लड़कों को रङ्गमञ्च पर नाट्य करने के लिए (रङ्गोपजीवी) तैयार करना चाहिए। सारांश में कह सकते हैं। 'गणिकाध्यक्ष' राजा के गणिकाओं का अध्यक्ष तो था ही, परन्तु सार्वजनीन गणिकाओं का भी अध्यक्ष वह था।

नावों के नियन्त्रण के लिए नौ-विभाग भी कौटिल्य ने बतलाया है और उसके अधिकारी का नाम 'नावध्यक्ष' है। समुद्र, नदीमुख, स्वाभाविक या कृत्रिम सर और नदी में नौ-प्रचार के कार्यों का नियन्त्रण उसके हाथ में होना चाहिए। यहाँ के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि उस काल में समुद्र से लोग आया जाया करते थे और समुद्र-द्वारा व्यापार भी होता था। राजनौकायें भी रहती थीं, और लोग कुछ महसूल देकर उनका उपयोग कर सकते थे। ब्राह्मण, प्रव्रजित, बालक, वृद्ध, व्याधित, शासनहर (राजाज्ञावाहक), गर्भिणी स्त्रियां

शुल्क के बिना घाट पार कर सकती थीं, बाक़ी लोगों को महसूल देना पड़ता था। बन्दरगाहों में महसूल देना पड़ता था। परन्तु आफत में पड़ी नौकाओं पर अनुग्रह करने के लिए बतलाया है। आने जाने के घाट और समय निश्चित होते थे, बेवक़्त या अनुचित स्थान से आने जाने से लोग दण्ड के पात्र होते थे। हाँ, बहुत आवश्यक कार्य से आने जाने-वालों की बात भिन्न है। उस समय भी चाँचे लोग थे। इस कारण इन्हें नष्ट करने के लिए कहा है। नावध्यक्ष का कर्तव्य होगा कि अतिभार के कारण, कुसमय या कुस्थान में पार करने से, मल्लाहों की कमी से या नौकाओं की मरम्मत न करने से यदि बोट डूबकर कुछ नुकसान हो जाय तो वह उसे भर दे।

ढोरों की निगरानी के लिए एक स्वतन्त्र विभाग कौटिल्य ने बतलाया है और हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश में ढोरों का महत्त्व सदैव से रहा है। इस विभाग के अधिकारी का नाम गोऽध्यक्ष है*। ढोरों के सम्बन्ध में भी कौटिल्य ने अनेक नियम बतलाये हैं। गोऽध्यक्ष के समान एक अश्वा-

---

* श्रीयुत शामशास्त्री ने इसका अनुवाद Superintendent of cows किया है, परन्तु हमारी समझ में इसका अनुवाद Superintendent of cattle होना चाहिए। गायों की देख-रेख के सिवा इस प्रकरण में बैल, भैंस, भैंसे आदि की भी देखरेख का वर्णन है। गो का अर्थ गाय तो होता ही है, पर कभी कभी ढोर भी होता है।

ध्यक्ष भी था। परन्तु यह केवल राजा के अश्वों की देखरेख करता था। अश्वों के भोजन और चालों की अनेक बातें विस्तार-पूर्वक कौटिल्य ने बतलाई हैं। घोड़ों का उपयोग लड़ाई के लिए भी होता था और उसकी शिक्षा उन्हें दी जाती थी। राजा के हाथियों के लिए एक हस्त्यध्यक्ष भी था। मामूली सवारी के लिए ही नहीं बल्कि लड़ाई के लिए भी हाथियों को शिक्षा दी जाती थी। यहाँ पर हाथियों के वैद्य का उल्लेख है।

रथों के लिए 'रथाध्यक्ष' था। रथ चतुरङ्ग सेना का एक महत्त्वपूर्ण भाग था। इसके सिवा, देव, उत्सव, तथा आने जाने के लिए भी रथों की ज़रूरत थी। पैदल-सेना के अध्यक्ष को पत्यध्यक्ष कहते थे। पैदल-सेना शायद तीन प्रकार की होती थी: मौल, भृत और श्रेणि। सेना में वंशानुवंश काम करनेवाले पहले वर्ग में आते थे, वेतन लेकर काम करने-वाले दूसरे वर्ग में और संघ बनाकर लड़ने का काम करने-वाले तीसरे वर्ग में। इन सबका प्रमाण पत्यध्यक्ष को जानना चाहिए। सिवा इसके, मित्र और शत्रु का तथा जङ्गली लोगों का भी बल उसे ज्ञात होना चाहिए। निम्नस्थल (नीची ज़मीन में) या छापा डालकर या खन्दक की ओट में या पर्वत-शिखर से दिन को या रात को लड़ाई कैसे लड़ना यह भी उसे जानना चाहिए। इसी प्रकरण में सेनापति के कर्तव्य भी बहुत संक्षेप में बतलाये हैं। सारांश में यह कहा है कि

सर्व-युद्ध-विद्या उसे आनी चाहिए। साथ ही, शत्रु-पक्ष में भेद करने की विद्या भी जानना उसे आवश्यक है।

आज-कल के 'पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट' को एक काम 'पास' (pass) देने का करना पड़ता है। इस प्रकार का काम उस समय मुद्राऽध्यक्ष के हाथ में था। उसकी 'मुद्रा' के बिना कोई भी देश से जाने या देश में आने न पाता था। चरागाहों की देखरेख के लिए एक 'विवीताध्यक्ष' था। इसके सिवा, इसी अध्यक्ष को शत्रु के आने वगैरः की ख़बर देनी होती थी, और लकड़ी और हाथी के जङ्गलों की रक्षा करना, सड़कों को अच्छी दशा में रखना, (रास्तों के) चोरों को पकड़ना, व्यापारी माल की रक्षा करवाना, ढोरों की रक्षा करना तथा लोगों के आने जाने के कामकाज हो सकें ऐसा प्रबन्ध करना उसी का काम था। इससे ऐसा जान पड़ता है कि नगर को छोड़कर शेष प्रदेश की शान्ति की रक्षा का बड़ा भारी भार उस पर था।

समाहर्ता, गुप्तचर तथा नागरक के कर्तव्य हम पहले ही बतला चुके हैं। इसलिए उन्हें यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। उस समय के राज्य-प्रबन्ध के ये इतने विभाग हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि इनके अलावे और भी कई विभाग थे। परन्तु उनका वर्णन कौटिल्य ने नहीं किया है। उनका उल्लेख कहीं कहीं ही है। उदाहरणार्थ, एक स्थान पर लवणाध्यक्ष का नाम आया है, तो दूसरे स्थान पर देवताध्यक्ष

का। इनका विस्तार-पूर्वक वर्णन न देने का यह कारण रहा हो कि उनका महत्त्व बहुत न था।

इस वर्णन को पढ़कर कई विचार उत्पन्न होते हैं। जैसे पहले बतला चुके हैं, विभागों का विभाजन बहुत ठीक नहीं जान पड़ता। खनिज पदार्थों के कई विभाग बतलाये जा चुके हैं। उनमें से बहुतेरों को एक में सम्मिलित कर सकते थे। दूसरा दोष यह देख पड़ता है कि भिन्न भिन्न विभागों के शुल्क या पदार्थरूप कर वसूल करनेवालों के ही हाथ में उन पदार्थों के कारख़ाने भी रखे हैं। यह आज-कल नहीं देख पड़ता। तीसरे, कोई कोई अध्यक्ष कुछ दूसरे अध्यक्षों के मातहत जान पड़ते हैं, परन्तु यह बात स्पष्टतया बतलाई नहीं है। चौथे, पण्याध्यक्ष, सीताऽध्यक्ष, गोऽध्यक्ष जैसे कई अधिकारी अधिकांश में राज्य-शासन के कार्य के लिए बनाये जान पड़ते हैं, लोगों के हित से उनका सम्बन्ध बहुत कम है। पाँचवें, राज्य आवश्यकता से अधिक व्यापारी और कारख़ानेदार बनाया जा चुका है। कररूप में प्राप्त हुई चीज़ें बेचना या राज्य-शासन के लिए आवश्यक पदार्थ बनाना अलग बात है, और दूसरे देशों में जाकर या जानबूझ कर मोल-भाव बढ़ा कर व्यापार करना या लोगों के आवश्यक पदार्थों के कारख़ाने खोलना अलग बात है। गणिकाध्यक्ष जैसे कुछ अधिकारी तो बहुतांश में राजा के लिए ही थे। राजा के व्यक्तिगत कार्यों के लिए आज-कल उसके निजी अधिकारी रहते हैं। कई विभागों

के अध्यक्ष के कार्यों को हम स्पष्टतया अलग नहीं कर सकते। सन्निधाता और कोष्ठागाराध्यक्ष, सन्निधाता और समाहर्ता, सन्निधाता और गाणनिक्य, सौवर्णिक और लक्षणाध्यक्ष के कई कार्यों में समानता पाई जाती है। फिर, देहात का प्रबन्ध और नगर का प्रबन्ध उन्हीं उन्हीं बातों के लिए ही कई बार अलग किया गया है। सन्निधाता और नागरक, नागरक और विवीताध्यक्ष इसके उदाहरण हैं। फिर, यह स्पष्ट नहीं है कि मन्त्री सबके ऊपर अधिकारी थे, अथवा ये अध्यक्ष ही। एक जगह पर उल्लेख है कि 'महामात्रों' को अपने अपने विभाग के हिसाब मुखाग्र जानना चाहिए। और हम पहले ही बतला चुके हैं कि उस समय एक मंत्रिमण्डल था अवश्य। तो क्या आज-कल के भारतीय प्रान्तों के शासन-प्रबन्ध के एक्जूक्यूटिव कौन्सिलर या मन्त्री के नीचे डायरेक्टर-इन्स्पेक्टर जनरल-सुपरिण्टेण्डेण्ट जैसी योजना उस समय भी थी? अमात्यों के कर्तव्यों का वर्णन करते समय हमने इस बात का अनुमान किया था और वह अब पक्का होता जान पड़ता है। इस शासन-वर्णन में ऊपर बताये अनेक दोष आज-कल हमें दीख पड़ते हैं।

परन्तु इन दोषों पर विचार करते समय हमें देश और काल को न भूलना चाहिए। लोगों की आवश्यकतायें देश की उत्पत्ति तथा जलवायु पर अवलम्बित रहती हैं। और आवश्यकताओं के अनुसार शासनविभाग भी बनते हैं। इसी के साथ समयानुसार भी आवश्यकतायें बदलती हैं

और इस कारण भी शासन-विभाग में अन्तर हो सकता है। गणिकाओं का प्रबन्ध इसी दृष्टि से समझाया जा सकता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारे यहाँ राजा पिता के समान समझा जाता था। 'अर्थशास्त्र' में ही इस बात के उल्लेख कई बार आये हैं और यह समझ इतने सैकड़ों साल बीतने पर भी इस देश में प्रचलित है। फिर, कोई आश्चर्य नहीं कि राज्य ने अपने ऊपर कई ऐसे कार्य उठा लिये थे जिन्हें राजा प्रजा के पिता की दृष्टि से ले सकता था। लोगों के आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करना राज्य अपना कर्तव्य समझता था*। पुस्तक में अनेक बातें भरने के प्रयत्न के कारण विभागों के सम्बन्ध का वर्णन स्पष्ट है नहीं। प्रत्यक्ष में कदाचित् यह दोष न रहा हो। राजधानी का महत्त्व उस समय अधिक था, और इस कारण वहाँ के शासनाधिकारी और जनपद के शासनाधिकारी उन्हीं कार्यों के लिए भी अलग अलग थे। पितृभाव प्रत्येक राज्यशासन में रहता है, पर यहाँ विशेष था। इसी कारण बालक, वृद्ध, व्याधित, गर्भिणी स्त्रियाँ, विपत्ति में पड़े लोगों पर राज्य की कृपादृष्टि विशेष थी और इस कारण कई नियमों से वे बरी कर दिये जाते थे। साधारण लोगों की भलाई पर भी राज्य का ध्यान कुछ कम नहीं जान पड़ता। कुछ विभाग शासन के ही कार्यों को

---

* इस बात का अधिक विचार 'राज्य का स्वरूप' नामक अध्याय में है।

करते विशेष जान पड़ते हैं इसका कारण देश, काल तथा कार्य-बुद्धि की भिन्नता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ दिया हुआ वर्णन बाईस शताब्दी से अधिक पुराना है। विचार करना चाहिए कि उस समय पृथ्वी के कौन से देशों का शासन इतना विकसित हो चुका था, और राज्यशासन के कार्यों और कर्तव्यों की वृद्धि इतनी बढ़ चुकी थी? ग्रीस और रोम भी इन बातों में शायद हमारे देश से टक्कर न ले सकें, फिर औरों की कथा ही क्या? आज हमें कौटिल्य के शासन-विभाग में भले ही कुछ दोष देख पड़ें, परन्तु देश और काल का विचार किया जाय तो यह कहना ही पड़ेगा कि यह शासन-विभाजन बहुत प्रशंसनीय है और हमारी यहाँ की उच्च सभ्यता का परिचायक है।

अध्याय ७

कर्मचारी

प्रत्येक राज्य-शासन में अनेक कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। और इन कर्मचारियों के लिए नियमों की आवश्यकता होती है। कौटिल्य ने अपनी शासन-व्यवस्था के लिए अपने ग्रंथ में स्थान स्थान पर जो नियम दिये हैं, उनका दिग्दर्शन इस अध्याय में किया जावेगा।

चाहिए। बिना झगड़ा-फ़साद किये तथा बिना गुट्ट बनाये आज्ञा के अनुसार उन्हें अपना काम करना चाहिए। यदि उनमें एका हो जाय तो वे राज्य का धन खाने लगते हैं। यदि झगड़े हो जायँ तो वे काम बिगाड़ने लगते हैं। प्रत्यक्ष आपत्ति के निवारणार्थ उपायों को छोड़कर बिना अपने स्वामी (राजा) के बतलाये कुछ भी (नई बात) उन्हें नहीं करनी चाहिए। (इस तरह की) बेपरवाही के लिए उनके दैनिक वेतन का दुगुना और तमाम किया हुआ ख़र्च उनका दण्ड करना चाहिए। जो कोई अध्यक्ष निश्चित अथवा उससे अधिक आय प्राप्त करे उसे पारितोषिक और उच्च पद दिया जाय।" उत्तेजन तथा अच्छे कार्य का प्रतिफल देना आवश्यक है और इसका थोड़ा बहुत अवलम्बन अब भी होता है। यही बात कौटिल्य ने भी कही है। शायद कोई कहे कि यदि कोई अधिकारी ख़र्च तो करे ख़ूब परन्तु आमदनी करे कम तो वह (सरकारी) धन ज़रूर खाता होगा, परन्तु यदि कोई अधिकारी ख़र्च से अधिक आमदनी करे या ख़र्च के बराबर ही आमदनी करे तो वह (सरकारी) धन न खाता होगा। इस पर कौटिल्य का उत्तर है कि यह कथन सर्वथा सत्य नहीं है। "कोई (सरकारी) धन खाता है या नहीं, इसकी जाँच गुप्तचरों-द्वारा ही हो सकती है।" और यह बात बहुत ठीक मालूम होती है। जिनके कारण आमदनी कम होती है, वे सदैव धन खाते ही हैं ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कह

सकते। अयोग्यता, असावधानी, या किसी तरह की आपत्ति के कारण भी आमदनी घट सकती है। और न तो यह ही निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ठीक या अधिक आमदनी करनेवाला घूँस नहीं खाता या धनापहार नहीं करता। कई चालाक तो आजकल यही किया करते हैं। अपना काम ठीक दिखलाया तो बहुधा ऊपरवाले अफ़सर भी अपने मातहतों पर ख़याल कम देते हैं। उनकी नीति रहती है कि खिलावो और खावो, फिर कोई कुछ नहीं कहता। परन्तु यह नीति हानिकारक है। इसीलिए कौटिल्य ने कहा है, "जो कोई आमदनी दुगुनी करता है, वह वास्तव में देश की शक्ति को ही नष्ट करता है।......(इसके लिए) यदि उसका अपराध छोटा हो तो पहले-पहल उसे ताकीद करनी चाहिए कि ऐसा फिर से न किया जाय। परन्तु यदि अपराध भारी हो तो उस प्रकार उसका दण्ड किया जाय। जो कोई (बिना किसी लाभ के) (सरकारी) आमदनी ख़र्च करता है, वह कर्मचारियों के श्रम (के द्रव्य) को खाता है।" यहाँ जो बात कही गई है, वह आजकल भी सत्य है। जहाँ कहीं मज़दूर आदि लगाये जाते हैं, वहाँ यह बात अधिक संभव है और बहुधा ऐसा होता भी है। "इसलिए प्रत्येक विभाग के अधिकारी को चाहिए कि वह अपने विभाग के कार्य, आमदनी और ख़र्च की सविस्तर जाँच करे। उसे यह भी चाहिए कि मूलहर, तादात्विक और कदर्यों पर आँख बनाये रखे। बपौती जायदाद

को खा-पी जानेवाला 'मूलहर' कहलाता है। जो मनुष्य अपनी समस्त कमाई ख़र्च कर डालता है, वह तादात्विक कहलाता है। जो निज को तथा नौकरों को कष्ट देकर द्रव्य इकट्ठा करता है, वह कदर्य है।" कौटिल्य ने कदर्य के कार्यों की जाँच पर विशेष ज़ोर दिया है। "क्योंकि जिस प्रकार जीभ के सिरे पर शहद रखा हो या विष, उसे चखे बिना कोई नहीं रह सकता, उसी प्रकार राजा के द्रव्य को थोड़ा न थोड़ा खाये बिना सरकारी नौकर नहीं रह सकता।" सर्वथा नहीं, तथापि बहुतांश में यह बात सत्य है। और यह भी सत्य है कि इन लोगों को सरकारी धन हड़पते समय पकड़ना भी कठिन है। "शायद आकाश में उड़ती चिड़ियों की गति को कोई भले ही जान सके, परन्तु 'प्रच्छन्न भाव' के कर्मचारियों की गति का पता लगाना संभव नहीं है।" सरकारी नौकरों के इस प्रकार के अनुचित रीति के सञ्चय को जब्त कर लेना चाहिए और उन्हें एक काम से दूसरे काम पर बदलते रहना चाहिए ताकि वे या तो सरकारी धन को हड़प न सकें या खाये हुए को उगल डालें। जो राजा की आय बढ़ावें और उसके हित में रत रहें, उन्हें नित्य अधिकार' (मुस्तकिल मुलाजिमत) देना चाहिए ।

किन किन कारणों से एक सरकारी नौकर अपनी सरकार को आर्थिक हानि पहुँचा सकता है, इसका वर्णन कौटिल्य ने एकही वाक्य में बड़ी अच्छी तरह से किया है। "जो सरकारी अधिकारी जासूसों की इकट्ठा की ख़बरों को जानने का प्रयत्न

तथा अपने विभाग के कार्य का निरीक्षण नहीं करता है वह अपनी सरकार को इन इन कारणों से हानि पहुँचा सकता है— दौड़धूप की तकलीफ़ सहने लायक़ वह सशक्त न हो और इस कारण आलसी हो, या उसके इंद्रिय और विशेष कर श्रवणेन्द्रिय कमज़ोर पड़ गये हों और इस कारण उससे असावधानी हो जावे, या वह लोगों की कुरकुराहट, अधार्मिकता, या अन-पेक्षित परिणामों से डर जाय; या स्वार्थी लोगों से वह मिला हो और इस कारण वह भी स्वार्थी बन गया हो, या वह ख़ूब ग़ुस्सेबाज़ हो और इस कारण दुष्ट भी हो; या विद्वान् अथवा गरजो चापलूस उसे घेरे रहें और वह अपनी प्रतिष्ठा न रख सके, या लोभ के कारण झूठे तराजू, झूठे बाँट, और झूठे हिसाब का उपयोग करे।"

परन्तु राज्य की सारो दारमदार उसका कोश है, उसी के द्वारा सारे कार्य चलते हैं। इसलिए उसकी ओर ख़ूब ख़याल देना आवश्यक है। "लोगों की समृद्धि से, अच्छे कार्यों के करने से, 'अनुग्रह' दिखलाने से, चोरों के पकड़ने से, अनावश्यक नौकरों को निकाल बाहर करने से, फसल अच्छी होने से, व्यापार की बढ़ती से, आपत्तियों के दूर होने से, कर की मुआफ़ी देने के मौक़े कम होने से और सुवर्णरूप में आय के बढ़ने से (राज्य की आर्थिक समृद्धि जानी जाती है)। इनमें से बहुतेरी बातें आज भी सत्य हैं। इस समृद्धि में सरकारी नौकर क्या किसी प्रकार बाधा डाल सकते हैं ? "प्रतिबन्ध,

प्रयोग, व्यवहार, अवस्तार, परिहापण, उपभोग, परिवर्तन, और अपहार से कोशक्षय होता है। आवश्यक कार्यों को न करना, या उनकी सिद्धि न होना या आय को (कोश में) जमा न करना 'प्रतिबन्ध' कहलाता है। इसके लिए (आर्थिक हानि की) रक़म का दसगुना दण्ड करना चाहिए। सरकारी द्रव्य से (निजी) साहूकारी करना 'प्रयोग' कहलाता है। सरकारी द्रव्य से (निजी) व्यापार करना 'व्यवहार' कहलाता है। इन दोनों अपराधों के लिए (सरकारी नौकर के लिए निजी) लाभ का दुगना दण्ड करना चाहिए। वसूली के उचित काल को खो देना या अनुचित काल पर वसूली करना अवस्तार कहलाता है। इसके लिए (उस) रक़म का पाँचगुना दण्ड करना चाहिए। निश्चित आय को कम करनेवाला या निश्चित ख़र्च को बढ़ानेवाला 'परिहापण' का दोषी होता है। इसके लिए (हानि की या अधिक ख़र्च की) रक़म का चार गुना दण्ड करना चाहिए। जो मनुष्य राजा के द्रव्य को ख़ुद खा जाता है अथवा दूसरों को खिलाता है, वह 'उपभोग' का दोष करता है। रत्न का उपभोग करने के लिए मृत्युदण्ड, क़ीमती चीज़ों के उपभोग के लिए मध्यम दण्ड और मामूली चीज़ों के उपभोग के लिए चीज़ों को वापस लेकर उनकी क़ीमत के बराबर दण्ड करना चाहिए। दूसरों की चीज़ों के बदले सरकारी चीज़ों को बदल डालना 'परिवर्तन' कहलाता है। जो कोई निश्चित रक़म को वसूल करने पर उसे कोश में जमा नहीं करता, अथवा

आज्ञा के अनुसार ख़र्च नहीं करता, अथवा वसूली की ठीक रक़म को कुछ का कुछ दिखलाता है, वह 'अपहार' का दोषी होता है। "इसके लिए (उस) रक़म का बारहगुना दण्ड करना चाहिए।" कौटिल्य का यह वर्गीकरण शायद आज हमारी बुद्धि को ठीक न जँचे और उसके बतलाये दण्ड कहीं ख़ूब सख़्त तो कहीं बहुत कम जान पड़ें। रत्नों के 'उपभोग' के लिए मृत्युदण्ड आज कठोर जान पड़ेगा, और सरकारी द्रव्य से साहूकारी अथवा व्यापार करने के लिए 'लाभ का दुगुना दण्ड' बहुत कम जँचेगा। शायद हम यह भी कहेंगे कि इनमें दण्ड के असली तत्त्वों का समावेश नहीं देख पड़ता। परन्तु हमें देश और काल का ख़याल रखना चाहिए। आज के सुधार सैकड़ों वर्षों के अनुभव के बाद हुए हैं।

कौटिल्य ने (कोश के) 'हरण' के चालीस तरीके बतलाये हैं, इतनी रीतियों से सरकारी नौकर कोश के द्रव्य का दुरुपयोग अथवा हरण करते हैं। (१) जो पहले वसूल हो चुका हो उसे बाद में जमा करना; (२) जो बाद में वसूल होवे उसे पहले ही जमा कर देना; (३) जो वसूल करने का हो उसे वसूल न करना; (४) जिसके वसूल होने की संभावना बहुत कम हो उसकी वसूली दिखलाना; (५) वसूल होने पर भी न वसूल हुआ दिखलाना; (६) वसूल न होने पर भी वसूल हुआ दिखलाना; (७) कुछ ही वसूल होने पर सबकी वसूली दिखलाना; (८) सबकी वसूली होने पर भी थोड़े की वसूली

दिखलाना; (९) वसूली तो हो एक पदार्थ की, परन्तु दिखलाना दूसरे पदार्थ की; (१०) एक जगह से वसूल हो परन्तु दिखलाई जाय दूसरे स्थान की वसूली; (११) जो कुछ देना हो वह न दिया जाय; (१२) जो न देना हो वह दे दिया जाय; (१३) समय पर न देना; (१४) समय के पहले ही दे देना; (१५) दिया जाय थोड़ा परन्तु दिखलाया जाय बहुत; (१६) दिया जाय बहुत परन्तु दिखलाया जाय थोड़ा; (१७) देने की हो एक प्रकार की चीज़ और दी जाय दूसरी चीज़; (१८) असली पानेवाले को न देते दूसरे को दे दिया दिखलाया जाय; (१९) कोश में जमा किया हुआ वहाँ से हटा कर न जमा किया हुआ वहाँ जमा कर दिया जाय; (२०) मोल न ली हुई चीज़ें मोल ली हुई दिखलाई जायँ या मोल ली हुई चीज़ें मोल न ली हुई दिखलाई जायँ; (२१) एक बड़ी रक़म के टुकड़े करके दिखलाये जाँय; (२२) छोटी छोटी रक़मों को मिलाकर एक बड़ी रक़म दिखलाई जाय; (२३) अधिक क़ीमत की चीज़ों का कम क़ीमत की चीज़ों से परिवर्तन किया जाय; (२४) कम क़ीमत की चीज़ों का अधिक क़ीमत की चीज़ों से परिवर्तन किया जाय; (२५) चीज़ों की क़ीमत बढ़ा दी जाय; (२६) चीज़ों की क़ीमत घटा दी जाय; (२७) रात्रियों* की संख्या बढ़ाकर दिखलाई जाय; (२८) रात्रियों*

* जब रात्रि के काम के लिए मजदूरी देनी पड़ती है तब ऐसा करना शक्य है ।

की संख्या घटाकर दिखलाई जाय; (२९) वर्ष के मान ठीक न दिखलाये जायँ; (३०) मासों के दिन ठीक न दिखलाये जायँ, (३१) निजी निगरानी में करवाये कामों में असंगति रहे; (३२) आमदनी के जरियों में असंगति रहे; (३३) दिये दान में असंगति रहे; (३४) किये गये काम के दिखलाने में संगति न रहे; (३५) निश्चित कार्यों के करने में संगति न रहे; (३६) सोने-चाँदी के 'वर्ण' अथवा मूल्य में विषमता रहे; (३७) वस्तुओं के मूल्य ठीक न दिखलाये जायँ, (३८) झूठे बाँट उपयोग में लाये जायँ; (३९) झूठा नाप या झूठी गिनती की जाय; (४०) झूठे नाप उपयोग में लाये जायँ।

इसके लिए उपयुक्त (यानी अध्यक्ष), निधायक (खज़ाञ्ची), निबंधक (वसूली की रक़म आदि निश्चित करनेवाला), प्रतिग्राहक (वसूली लेनेवाला), दायक (देनेवाला), दापक (पटवानेवाला), और मन्त्री-वैयावृत्तकरों (मन्त्री के क्लर्कों) का अलग अलग बयान लिया जाय। यदि इनमें से कोई झूठ बोले तो अपराध करनेवाले युक्त (यानी मन्त्री) के समान ही उसे दण्ड दिया जाय। लोगों में मुनादी कर दी जाय कि इस अपराधी के द्वारा जिस किसी को यदि कुछ नुकसानी हुई हो तो वे सरकार को उसकी इत्तला करें। जो कोई इसके अनुसार आकर (अपनी हानि का) निवेदन करें, उनकी हानि की पूर्ति कर देनी चाहिए। यदि एक ही अधिकारी ने कई अपराध किये हों और इनमें से किसी के विषय में

परोक्त* का दोष उस पर लागू हो तो वह सब दोषों के लिए उत्तरदायी समझा जावेगा। अन्यथा प्रत्येक दोष के लिए उस पर अलग अलग अभियोग चलाया जावेगा। यदि यह सिद्ध हो कि किसी सरकारी नौकर ने किसी भारी रक़म के किसी हिस्से का दुरुपयोग किया है, तो उस पर सारी रक़म की जवाबदेही रहेगी। कौटिल्य के अन्तिम दो नियम आज-कल बड़े सख़्त जान पड़ेंगे। 'अपहरण की सूचना देनेवाले और अपना कथन सिद्ध करनेवाले को (अपहृत) रक़म का छठा हिस्सा देना चाहिए। परन्तु यह पुरुष सरकारी नौकर हो तो उसे बारहवाँ हिस्सा ही मिलेगा।' इसमें यह देख पड़ता है कि सरकारी नौकरों का कर्तव्य ही है कि अपहरण की सूचना वे अवश्य देवें। झूठी बात बतलानेवाला दोषी होता है। 'यदि कोई सूचक (सूचना

---

* तीसरे अधिकरण के प्रथम अध्याय में कौटिल्य ने 'परोक्त दोष' की लम्बी चौड़ी परिभाषा दी है—

"यदि उपस्थित प्रश्न को छोड़कर दूसरा प्रश्न छेड़ा जाय, पहले का बयान पिछले बयान से न मिले, विचार में लेने योग्य न होने पर भी यदि किसी तीसरे का मत लेने पर ज़ोर दिया जाय, उपस्थित प्रश्न का उत्तर देते देते बीच ही में बन्द कर दे यद्यपि उत्तर पूर्ण करने की आज्ञा मिली हो, अपने ही उठाये प्रश्नों को छोड़कर अन्य ही प्रश्न छेड़ने का प्रयत्न करे, अपना दिया बयान वापस ले ले, अपने साक्षियों का बयान स्वीकार न करे, और जहाँ पर अपने साक्षियों से गुप्त बातचीत न करनी चाहिए वहाँ ऐसी बातचीत करे, तो परोक्त दोष होता है।"

देनेवाला) अपना कथन सिद्ध न कर सके तो उसका आर्थिक अथवा शारीरिक दण्ड होना चाहिए और उस पर कोई अनुग्रह न करना चाहिए। आज-कल यह होता है कि इस सूचना से जिसकी बदनामी होती है वही सूचक पर मानहानि का अभियोग चलाता है। 'यदि सूचक अभियुक्त के कहने से अपना कथन वापस ले ले तो उसे प्राणदण्ड देना चाहिए।' यह तो बहुत भारी सख़्ती है। इसमें अर्थ इतना ही दीखता है कि किसी सरकारी नौकर की अपहरणादि विषय की बदनामी कोई झूठ-मूठ न करे। पहले अच्छी तरह देख ले कि बात सत्य है अथवा झूठ, और उसके विषय में क्या प्रमाण प्रस्थापित किये जा सकते हैं, तत्पश्चात् वह किसी सरकारी नौकर पर खानियत का ज़ुल्म लगावे। सरकारी नौकरों को बदमाशों की चंगुल से बचाने के लिए इस बात की वास्तव में आवश्यकता है। तथापि आजकल लोग यह ज़रूर कहेंगे कि सरकारी नौकर के सार्वजनिक आचरण तथा कार्य पर यदि टीका-टिप्पणी करने का अधिकार लोगों को न रहे तो वह अपनी मनमानी चलाने लगेगा। इसलिए आजकल की रीति यानी मानहानि के लिए सूचक या आरोपक पर अभियोग चलाने का अधिकार सरकारी नौकर को रहना ठीक है।

पाठक यह जानना चाहेंगे कि उस समय सरकारी नौकरों को क्या वेतन मिलते थे। इस ग्रन्थ में सारे के

सारे नौकरों की तनख़्वाहें बतलाना संभव नहीं। तथापि उच्च दर्जे के अधिकारियों के वेतन यहाँ बतलाये हैं। "राजा को चाहिए कि अपने दुर्गों की तथा जनपद की आवश्यकता के अनुसार सारी आमदनी के चौथाई भाग* के भीतर नौकरों के वेतन का ख़र्च रखे; उचित पारिश्रमिक देकर राजा अपने नौकरों के शरीर-सुख की ओर ध्यान दे ताकि अपना काम करने का उनमें उत्साह बना रहे।" आज-कल भारी भारी अधिकारियों को क्या वेतन मिलता है, यह बहुतेरे लोगों पर प्रकट ही है। उस समय का सिक्का 'पण' था। हम बतला ही चुके हैं कि वह ताम्बे और चाँदी दोनों का होता था और चाँदी का पण आज-कल के रुपये का चार पञ्चमांश होता था। हम यह भी कह चुके हैं कि दण्ड की दृष्टि से पण को चाँदी का ही समझना चाहिए। और हम समझते हैं कि वेतन के लिए भी पण को चाँदी का ही समझना ठीक होगा। ऐसा जान पड़ता है कि कौटिल्य ने पण को चाँदी का ही माना है। उसके ताम्बे के सिक्के माष, अर्धमाष, काकणी और अर्ध-काकणी हैं। ऋत्विक्, आचार्य, मंत्री, पुरोहित, सेनापति,

---

* मूल में पाठ है 'समुदायवादेन।' इस पर श्री शामशास्त्री का कहना है कि 'समुदायवादेन' की अपेक्षा 'समुदायपादेन' पाठ अच्छा है। संभव है कि मूल के लेखक की भूल के कारण वह पाठान्तर हो गया है।

युवराज, राजमाता, और राजमहिषी को ४८,०००* पण देना चाहिए।" यह वेतन उस समय था कि जब चीज़ें आज से कई गुनी सस्ती थीं। यह बतलाना मुश्किल है कि उस समय चीज़ों के क्या भाव थे। अनुभव से तो यह जान पड़ता है कि प्रति पाँच छः साल में खाद्य पदार्थों की क़ीमत दुगनी हो जाती है। इसी के साथ, इसी दर से नहीं तथापि बहुत कुछ इसी प्रकार, अन्य चीज़ों की भी क़ीमत बढ़ जाती है। तो उस समय खाद्य पदार्थ ३०० से ४०० गुने सस्ते रहे होंगे। और इसमें कोई आश्चर्य नहीं जान पड़ता। बुड्ढे लोग कभी कभी कहा करते हैं कि हमारे समय में २$\frac{१}{२}$—३ मन चावल-गेहूँ मिलता था। आज का भाव इससे बीस गुना महँगा है। अतिशयोक्ति का भाग निकाल कर यह भी मान लें कि ५० वर्ष पहले चीज़ें दसगुनी सस्ती थीं, तो भी हमारे कथन को पुष्टि ही मिलती है। अब यदि यह भी मान लें कि आज से वस्त्र-भोजन की चीज़ों के सिवा अन्य चीज़ें (विशेषतः अमीरी चीज़ें) आवागमन की कठिनता के कारण महँगी थीं, तो भी अन्ततः यह मानना ही होगा कि कौटिल्य के समय का भाव आज से २०० गुना सस्ता ज़रूर होगा। पण रुपये का चार पंच-

---

* यहाँ पर कौटिल्य ने यह नहीं बतलाया है कि यह वेतन सालाना है। परन्तु रक़म और प्राचीन रीति को देखते यही जान पड़ता है कि वेतन वार्षिक है।

मांश होता था। इसलिए उसकी क़ीमत ₹ मानी जाय तो भी आज के वाइसराय से उस समय के इन अधिकारियों का वेतन कम से कम पचीस गुना अधिक था। अब दूसरे अधिकारियों तथा कर्मचारियों का वेतन सुनिए। दौवारिक (द्वारपाल), अन्तर्वंशिक (अन्तःपुर का अधिकारी), प्रशास्ता*, समाहर्ता और सन्निधाता २४,००० पण पावें। कुमार, कुमारमातृक (कुमार की आया), नायक†, पौर (नागरक ?), व्यावहारिक (व्यापार का अधिकारी), कर्मान्तिक (कारख़ानों का अधिकारी), मंत्रिपरिषद्‡, राष्ट्रपाल (जनपद के अधिकारी) और अन्तपाल (सीमाप्रान्त के अधिकारी)

---

* इसका अर्थ श्री शामशास्त्री ने commander दिया है। इससे इतना ही कह सकते हैं कि यह सैनिक अधिकारी है।

† इसका अर्थ श्री शामशास्त्री ने Chief constable दिया है।

‡ इसका अर्थ श्री शामशास्त्री ने अँग्रेज़ी में members of the council of ministers किया है। परन्तु हमारी समझ में यह कुछ कुछ भ्रमकारक है। अमात्यों और मंत्रियों का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं और यह बतला चुके हैं कि मंत्रियों का काम सलाह देने का था। नित्य मंत्रियों के सिवा कुछ पुरुष ऐसे भी थे जो मंत्रियों की मण्डली में उपस्थित हुआ करते थे और शायद सलाह भी देते थे। इन सब को ही 'मंत्रिपरिषद्' कहा है।

१२,००० पण पावें। श्रेणीमुख्य*, हस्तिमुख्य*, अश्वमुख्य*, रथमुख्य*, और प्रदेष्टा† को ८,००० पण देना चाहिए। पत्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, द्रव्यवनपाल, हस्तिवनपाल को चार हज़ार पण देना चाहिए। रथिक (सारथी), अनीक-चिकित्सिक (सैन्य का वैद्य), अश्वदमक (घोड़ों को

---

* ये सब सैनिक अधिकारी हैं। श्री शामशास्त्री ने श्रेणीमुख्य का अर्थ 'chief of military corporation' किया है।

† प्रदेष्टा का अर्थ श्री शामशास्त्री ने commissioner किया है परन्तु कमिश्नर का जो अर्थ आजकल हिन्दुस्तान में प्रचलित है, वह अर्थ यहाँ लागू नहीं होता। commission का अँगरेज़ी में एक अर्थ यह होता है कि कुछ अनित्य काल के लिए किसी के सिपुर्द कुछ काम सौंप देना। शायद प्रदेष्टा का यही अर्थ हो सकता है। एक दूसरे स्थान पर लिखा है 'समाहर्ता के प्रदेष्टा, पहले-पहल सब अध्यक्ष और उनके पुरुषों का नियमन करें'। इसका अर्थ यह हो सकता है कि उनके कार्यों की जाँच करे। यहाँ पर 'समाहर्ता के प्रदेष्टा' कहा है इससे यह ध्वनि निकलती है कि दूसरों के भी प्रदेष्टा रहे होंगे। चाहे यह सत्य हो या न हो, इतना तो सत्य है कि प्रदेष्टा अधिकारियों के कार्यों के नियमनकर्ता थे। और उन्हें आजकल की भाषा में Inspector या supervisor कह सकते हैं। समाहर्ता यदि उन्हें यह बतलाता रहा हो कि अमुक काम या अमुक का काम देख आवो, तो उनकी आजकल के कमीशनों के कमिश्नरों से तुलना कर सकते हैं। परन्तु यहाँ के वर्णन से ऐसा जान पड़ता है कि वे केवल जाँच पड़ताल करनेवाले ही न थे, बल्कि दण्ड वगैरः का अधिकार भी उन्हें था। इसलिए उन्हें शासन-विभाग के नियमित अधिकारी कह सकते हैं।

सिखानेवाला), वर्धकि (बढ़ई),* योनिपोषक† दो हज़ार पण पावें। कार्तान्तिक (भविष्य बतलानेवाला), नैमित्तक (शुभाशुभ बतलानेवाला), मौहूर्तिक, (मुहुर्त्त बतलानेवाला), पौराणिक, सूत (कथा बतलानेवाला), मागध (भाट), पुरोहित के अनुचर और (बाक़ी) सब अध्यक्ष एक एक हज़ार पावें। शिल्पी, पादात‡, संख्यायक (हिसाब-किताब रखनेवाले) और लेखक (क्लर्क या रीडर) पाँच सौ पावें। कुशीलव (वादक-गायकादि) को २५० पण वेतन दिया जाय। परन्तु इनमें से तूर्यकर (भेरीवाले), बाक़ी लोगों से दुगना पावें। मिस्त्री बढ़ई वग़ैरः १२० पण पावें। चतुष्पद-परिचारक, द्विपद-परिचारक, पारिकार्मिक (विविध काम करनेवाले), उपस्थायिक (राजा की सेवा में हाज़िर रहनेवाले), पालक (शरीर-रक्षक), विष्टिबंधक (बिगार लानेवाले) साठ पण पावें। आर्ययुक्त (राजा का सहचर), आरोहक (महावत), माणवक (जादूगर), शैलखनक (पर्वतों की खानियों को खोदनेवाले), (शेष) सब उपस्थायिक–आचार्य–विद्वान् अपनी योग्यता के अनुसार ५०० से १,००० पण तक वेतन पावें।" आजकल वेतन के सिवा कई प्रकार के अलाउन्स भी मिलते हैं।

---

* यहाँ पर मुख्य बढ़ई का संकेत होगा।

† पशु की प्रजा का पोषण करनेवाला। इसी को अँगरेज़ी में breeder कह सकते हैं।

कौटिल्य ने भी एक प्रकार के ट्रैवलिङ्ग अलाउन्स की गुंजाइश रखी है। "मध्यम (वर्ग का) दूत प्रत्येक योजन के लिए १० पण पावे और यदि वह दस योजन से अधिक परन्तु १०० के भीतर चले तो उसे इससे दुगना देना चाहिए।" यह कह नहीं सकते कि इसके अलावे कोई वेतन मिलता था या नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि वेतन अलग न मिलता था। राजसूयादि-यज्ञ में जो राजा का प्रतिनिधि हो उसे अपने बराबरी के विद्या-वाले से तिगुना दिया जाय और (उस समय के) सारथि को एक हज़ार। कापटिक (कपटी), उदास्थित (उदासीन), गृहपति (गृहस्थो), वैदेहक (व्यापारी), तापस (तपश्चर्या-करनेवाले का बहाना करनेवाले जासूसों) को एक हज़ार पण दिये जावें। ग्रामभृतक*, सत्रि†, तीक्ष्णरसद‡ और भिक्षुकी ५०० पण पावें। जासूसों के मार्ग-दर्शक २५० पण या अपने कार्यानुसार वेतन पावें। सरकारी काम करते करते कोई मर जाय तो उनके लड़के-बच्चे भोजन और वेतन पावें। और उनके बाल, वृद्ध, व्याधित लोगों पर अनुग्रह किया जाय। मृत्यु, रोग अथवा प्रसूति के समय राजा इन्हें कुछ धनद्रव्य दे।"

यदि कोश में भरपूर द्रव्य न रहे तो क्या किया जाय? "यदि राजा के पास भरपूर धन न रहे तो जंगली पैदाइश, पशु

---

* कदाचित् आजकल का मुकद्दम।

† एक प्रकार का जासूस।

‡ विष खिलानेवाले।

अथवा क्षेत्र दे और थोड़ा धन भी दे। बिना आबादी की ज़मीन को आबाद करवाना चाहे तब केवल धन दे। और यदि उसकी इच्छा हो कि सारे ग्रामों का काम एक सा चले तो उसे चाहिए कि वह किसी को गाँव न दे। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भूमि किसी को न दी जाय। "ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित और श्रोत्रिय को ब्रह्मदेय भूमि दी जाय जो दण्ड और कर से बरी हो। अध्यक्ष, संख्यायक, गोप, स्थानिक, अनीकस्थ (ढोरों के वैद्य), चिकित्सक, अश्वदमक और जंघारिकों (संदेशवाहकों) को भी भूमि दे दी जाय, परन्तु वे उसका रहन या बय न कर सकें।" इस प्रकार राजा अपने नौकरों का पालन-पोषण करे और उनकी विद्या और काम देखकर उनके भोजन-वेतन की प्राप्ति को बढ़ावे।

कौटिल्य ने तबादले के भी कुछ नियम दिये हैं। "शत-मनुष्यों के दल और सहस्र मनुष्य के दल के अध्यक्ष* अपने अपने हाथ के नीचे के लोगों के भोजन, वेतन, लाभ, नियुक्ति, और स्थानपरिवर्तन (तबदीली) का नियंत्रण करें। राज-परिग्रह, दुर्ग और राष्ट्र (जनपद) के रक्षकों की तबदीली कभी न की जाय। वे सदैव नित्य (मुस्तकिल) रहें और उनकी संख्या यथेष्ट रहे।"

आजकल सरकारी नौकरों का लोगों से लाँच-घूस लेना क़ायदे से मना है। कौटिल्य ने इस विषय में प्रत्यक्ष

---

* जान पड़ता है कि ये सैनिक अधिकारी हैं।

तो नहीं परन्तु अप्रत्यक्ष नियम दिये हैं। "न्यायकर्ता (धर्मस्थ) (अदालत में) किसी पक्षकार पर आँखें दिखलावे या घुड़के या किसी पक्षकार को निकाल बाहर करे या ज़बरदस्ती चुप करे तो उसका 'पूर्वसाहसदण्ड'※ हो। यदि कठोर भाषा का उपयोग करे तो उसका दुगुना दण्ड हो। यदि वह जो बात पूछनी चाहिए वह बात वह न पूछे, या न पूछनी चाहिए वह पूछे, या पूछने पर उसे छोड़ दे या किसी (पक्षकार को) कुछ (अप्रत्यक्ष) सिखलावे या याद दिलावे, या पहले बतलाया बयान बतला दे तो उसका 'मध्यमसाहसदण्ड†' होगा।" इतने से ही स्पष्ट है कि न्यायकर्ता को निष्पक्ष होना आवश्यक है। और यह सबको मालूम ही है कि लाँच लेने पर वह निष्पक्ष रह नहीं सकता। यही बात कई अन्य रीतियों से और कही है। "जो कोई न्यायकर्ता आवश्यक परिस्थिति

※ साहस कर्म का विचार करते समय कौटिल्य ने इन शब्दों के अर्थ तीसरे अधिकरण के सत्रहवें अध्याय में दिये हैं। अचानक और प्रत्यक्ष किसी की चीज़ को लूटकर या किसी को पकड़ कर कोई ले जाय तो साहसकर्म होता है। इसे आजकल लूट और डकैती कह सकते हैं।

"यदि कोई ताम्र, वृत्त (पीतल), कंस (काँसा), काच (काँच), दन्त (हस्तिदन्त), भाण्ड (बर्तन) जैसी यथेष्ट कीमती चीज़ें लूट ले तो उसका ४८ पण से ९६ पण तक दण्ड करना चाहिए। इसे पूर्वसाहस दण्ड कहते हैं।"

† "बड़े पशु, मनुष्य, क्षेत्र, गृह, हिरण्य, सुवर्ण (सोने के सिक्के), सूक्ष्म वस्त्र (महीन वस्त्र) आदि लूटे तो उसका २०० से ५०० पण तक दण्ड करना चाहिए। इसे मध्यमसाहसदण्ड कहते हैं।"

की जाँच न करे या अनावश्यक परिस्थिति की जाँच करे या अपने कर्तव्य के करने में अनावश्यक विलम्ब करे या छलपूर्वक काम टरकावे, या देरी के कारण थकाकर पक्षकारों को अदालत छोड़ने के लिए बाध्य करे, या निर्णायक वाक्यों को किसी प्रकार टाल दे या टलवा दे, या साक्षियों को अनावश्यक सहायता दे या निपट गये मामलों को पुनश्च उठावे, तो उसका 'उत्तम (यानी, प्रथम-वर्ग का) साहसदण्ड* हो'। यदि वह पुनश्च ऐसा करे तो दुगुना दण्ड करके निकाल बाहर किया जाय।" ऊपर के दो वाक्यों से न्यायशासन के नियम भी मालूम हो जाते हैं।

उस समय अदालत के काम के लिए 'लेखक'† रहते थे। उन पर भी बड़ी भारी ज़िम्मेदारी थी। "यदि कोई 'लेखक' दिये हुए बयान न लिखे या न दिये हुए बयान लिखे या जो अच्छी तरह (स्पष्ट) न बोला गया हो उसे (लिखने से) टाल दे, या जो बयान अच्छी तरह से दिये हों उन्हें बिगाड़ दे या संदिग्ध कर दे तो उसका 'पूर्वसाहसदण्ड' अथवा अप-

* "स्त्री या पुरुष को जबरदस्ती कोई बन्धन में डाले या डलवावे, या उन्हें बन्धन से छोड़ दे या छुड़वावे, तो उसका ५०० से १,००० पण तक दण्ड होना चाहिए। इसे उत्तमसाहस दण्ड कहते हैं।

† 'लेखक' का अर्थ आजकल की भाषा में क्लर्क, मोहर्रिर या मुंशी हो सकता है।

राधानुसार दण्ड होना चाहिये।" इसी प्रकार अन्याय या अनुचित दण्ड देना भी मना किया है।

इसी प्रकरण में जेल के अधिकारियों के कुछ नियम दिये हैं। "यदि कोई अधिकारी चारक (हवालात) से किसी अपराधी को छोड़ दे या भगवा दे या निद्रा-आसन-भोजन आदि शारीरिक व्यापार रोकने का प्रयत्न करे तो (अपराधानुसार) तीन पण से लगाकर आगे अधिक दण्ड हो। यदि किसी अभियुक्त को चारक से छोड़ दे या भगवा दे तो उसका 'मध्यमसाहस दण्ड' के सिवा 'अभियोगदान'* दण्ड भी होगा। यदि कोई किसी क़ैदी को 'बन्धनागार' से छोड़ दे या भगवा दे तो उसे मृत्यु-दण्ड तो होना ही चाहिए, परन्तु सब जायदाद (सर्वस्व) भी जब्त होनी चाहिए।" जेल के लिए ऐसे कड़े नियम थे। इसका यह अर्थ नहीं कि अभियुक्तों पर कोई दया न की जाती थी, या उनसे मनुष्योचित व्यवहार न किया जाता था। एक वाक्य ऊपर दे ही चुके हैं जिसमें

* 'अभियोगदान' का अर्थ, जान पड़ता है, यह है कि जिस बात के लिए अभियोग हो वह देना पड़े। इसलिए 'अभियोगदान' केवल जायदाद से सम्बन्ध रखनेवाले मामलों में हो सकता है। इससे यह अनुमान निकलता है कि जायदाद के मामलों के लिए भी जेल उस समय होती थी। चारक हवालात है तो बंधनागार कारागार है। अभियुक्त का अर्थ है जिसपर अभियोग चलता हो। हवालात की पद्धति से यह अनुमान निकल सकता है कि उस समय भी न्याय का काम कुछ दिनों तक चलता रहता था।

अभियुक्तों से उचित व्यवहार करने की आज्ञा देख पड़ती है। आगे चलकर वे अनेक नियम दिये हैं जिनसे किसी को जबरदस्ती हवालात में रखना या किसी को अनावश्यक पीड़ा देना या किसी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदल देना या किसी को भोजनादि से वंचित करना या किसी क़ैदी को कष्ट देना या उससे लाँच लेना या उसे मारना या उसके शरीर का किसी प्रकार दुरुपयोग करना मना किया है, और ऐसे कार्यों के लिए अनेक प्रकार के छोटे बड़े दण्ड बतलाये हैं। सारांश, सरकारी कर्मचारी अपनी मनमानी उस समय भी नहीं चला सकते थे।

अध्याय ८।

न्याय-शासन-व्यवस्था।

न्याय-व्यवस्था के बिना नागरिक की स्वतंत्रता की रक्षा नहीं हो सकती, बिना स्वतन्त्रता की रक्षा के प्रजा को शान्ति नहीं मिल सकती, शांति के बिना ऐहिक और पारलौकिक कार्य नहीं हो सकते, और इनके किये बिना किसी प्रकार का सुख नहीं मिल सकता। सारांश, न्याय के बिना प्रजा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सबसे वंचित होती है। इसलिए न्याय-व्यवस्था पर प्रजा के उद्देशों की पूर्ति बहुत कुछ अवलंबित है। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कौटिल्य ने

भी न्याय-व्यवस्था का विचार अपने ग्रंथ में किया है। हिन्दुस्थान में बड़े प्राचीनकाल से न्यायकार्य को बहुत पवित्र मानते आये हैं, इसमें किसी प्रकार का विघ्न आने देना न्यायकर्ता उचित नहीं समझते थे। न्याय करते समय सारे लोभ-विकारादि दूर कर दिये जाते थे, और न्याय अत्यंत निष्पक्षपात-पूर्वक किया जाता था। कौटिल्य ने भी कहा है:—

दण्डोहि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति।
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथा दोषं समं धृतः॥
एवं कार्याणि धर्मस्थाः कुर्युरच्छलदर्शिनः।
समाः सर्वेषु भावेषु विश्वास्या लोकसम्प्रियाः॥

इस समझ का बल इतना बड़ा था कि उसका प्रभाव मुसलमान शासकों पर भी पड़ा और अनेक अत्याचार करने पर वे भी न्याय-दान के समय बहुधा निष्पक्षपात देख पड़े हैं।

अदालतें दो प्रकार की थीं, धर्मस्थीय (दीवानी) और कण्टकशोधन (फ़ौजदारी)। "संग्रहण, द्रोणमुख और स्थानीय नामक क़िलों के शहरों में और जनपद के संधिस्थानों में* तीन धर्मशास्त्री और तीन अमात्य मिलकर न्याय का काम करें।" "धर्म, व्यवहार, चरित्र, और राज-शासन न्याय के चार पाद हैं। इनमें से (अनुक्रम से) प्रथम से तदनन्तर बतलाया (न्याय का पाद) अधिक मान्य है।" आज-कल का क़ानून मान्यता तथा वर्गीकरण की दृष्टि से

* यानी जहाँ जनपदों की सीमायें एक दूसरे से मिलें वहां।

इससे बहुत कुछ मिलता जुलता है। आज-कल क़ानून के प्रकार छः माने जाते हैं। वे ये हैं:—(१) custom—व्यवहार; (२) religion—धर्म; (३) adjudication—न्याय-निर्णय; (४) equity—न्याय-बुद्धि; (५) scientific discussion—न्याय-मीमांसा; (६) legislation—राज्य-शासन। दोनों में राज्यशासन ही सर्वोच्च है और दोनों में धर्म, व्यवहार तथा राज्य-शासन नामक भेद हैं। कौटिल्य ने न्यायबुद्धि, न्याय-मीमांसा तथा न्याय-निर्णय को स्थान नहीं दिया है। इसका यह अर्थ नहीं कि इनका उस समय कुछ भी प्रभाव न था। जहाँ न्याय का कोई मार्ग नहीं रहता, वहाँ न्याय न्यायबुद्धि के अनुसार ही किया जाता है। यह बात सभ्य और असभ्य सब जगह लागू है। न्याय-मीमांसा अपने यहाँ ज़रूर कम होती थी—न्याय का शास्त्रीय विवेचन कम ही था। न्याय-निर्णय ज़रूर एक रूप में वर्तमान था। वह रूप था स्मृत्यादि की टीका। आज-कल न्यायनिर्णय* न्यायाधीशों पर अवलम्बित रहता है, उस समय टीकाकारों पर रहता था। तथापि आज भी क़ानून के अर्थ के स्पष्टीकरण में टीकाकार कुछ कम दखल नहीं देते, उनका

* इसमें अर्थादि के निर्णय के अनुसार न्याय किया जाता है। इस कारण कभी कभी नया क़ायदा ही बन जाता है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि दूसरा न्यायाधीश उस मतलब को मानने के लिए बाध्य है। वह माने अथवा न माने, वह अपना ही मतलब भलेही कर ले। तथापि बहुधा ये निर्णय माने अवश्य जाते हैं।

भी इस बात में काफ़ी हाथ रहता है। परन्तु एक बात ख़याल में रखनी चाहिए। उस समय राज्य-शासन कम थे, आज बहुत अधिक हैं। यहाँ तक कि एक राज्य-विज्ञानी ने आज-कल के राज्यों को शासनमय राज्य (legislation states) कह डाला है। आज-कल बहुत कम सभ्य देश हैं जहाँ नित्य नये क़ानून बनाने के लिए क़ानून-सभा न हो और नित्य नये क़ानून न बनते हों। ऐतिहासिक दृष्टि से धर्मानुसार न्याय-व्यवस्था सबसे प्रथम ही देख पड़ती है। किसी न किसी प्रकार का 'धर्म' नितान्त जङ्गली जातियों में भी देख पड़ता है। परन्तु कौटिल्य ने धर्म की कल्पना बड़ी उच्च दी है। 'अत्र सत्ये स्थितो धर्मः—धर्म सत्यमूलक है।' सत्य की परिभाषा न भी हो तो भी उससे कुछ कल्पना अवश्य हो सकती है। 'व्यवहारस्तु साक्षिषु—व्यवहार साक्षियों-द्वारा जाना जाता है।' यही बात आज भी है। चरित्र का अर्थ ठीक स्पष्ट नहीं है। कौटिल्य ने कहा है, चरित्रसंग्रहे पुंसाम्। इसका श्री शामशास्त्रीजी ने अनुवाद किया है 'Charitra, history, is to be found in the tradition (संग्रह) of the people'। यह कहना कठिन है कि यह अर्थ ठीक है या नहीं। तथापि संग्रह का अर्थ tradition करना ठीक नहीं जँचता। चरित्र का ही अर्थ tradition (प्रथा) हो सकता है। लोकसंग्रह से यानी अनेक लोगों से ही यह बात जानी जा सकती है कि चरित्र यानी प्रथा किस प्रकार की है। अब प्रश्न हो सकता है कि 'व्यवहार'

और 'चरित्र' में क्या भेद है। इसका उत्तर देना और भी कठिन है। हमारी अल्पमति में उनमें यह भेद जान पड़ता है — व्यवहार वर्तमान काल से सम्बन्ध रखता है, चरित्र केवल वर्तमान काल से ही नहीं बल्कि भूत काल से भी। पूर्वापर सम्बन्ध जानकर ही 'चरित्र' का निश्चय हो सकता है। परन्तु आजकल custom यानी व्यवहार में ये सब बातें समाविष्ट होती हैं। परन्तु कौटिल्य ने इन्हें स्पष्टतया भिन्न बतलाया है:—

संस्थाया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्।
यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिश्चयेत्॥

इसका ठीक अर्थ करना कठिन जान पड़ता है। मूल में 'संस्थाया:' का पाठान्तर 'संस्थया' भी दिया है। एक ही ऊपर के श्लोक में 'संस्था' का उपयोग हुआ है। वहाँ पूर्वापर सम्बन्ध से ऐसा जान पड़ता है कि उसका उपयोग 'चरित्र' के लिए हुआ है। क्योंकि वहाँ भी न्याय के 'चार-पादों' का उल्लेख देख पड़ता है। भेद इतना ही है कि 'चरित्र' के बदले 'संस्था' और 'राजशासन' के बदले 'न्याय' शब्द आये हैं। यहाँ उद्धृत श्लोक में यदि 'संस्था' का अर्थ 'चरित्र' ले लें तो 'संस्थाया:' के बदले 'संस्थया' पाठान्तर ही विशेष ठीक जान पड़ता है। और इस श्लोक का अर्थ यही हो सकता है:—

संस्था (चरित्र) से या धर्मशास्त्र से व्यावहारिक शास्त्र

का अर्थ की दृष्टि से (जब कभी) विरोध हो तो, धर्म (की सहायता) से अर्थ का निश्चय करना चाहिए* ।

इसी प्रकार,

शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित् ।
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात्तत्र पाटो† हि नश्यति ॥

"जब धर्मन्याय से शास्त्र का विरोध हो तब (शास्त्र के) पाठ के नष्ट होने पर 'न्याय' (यानी 'धर्मन्याय') को प्रमाण मानना चाहिए ।" यहाँ पर शास्त्र का अर्थ धर्मशास्त्र-विषयक पुस्तकें मानना पड़ता है । 'न्याय' का अर्थ 'धर्मन्याय' स्पष्ट

---

* भावार्थ की दृष्टि से ही यह अर्थ लिया जा सकता है और वह यह है कि धर्म को ही ऐसे प्रसंग पर श्रेष्ठ मानना चाहिए । परन्तु ठीक अर्थ करने के लिए ऊपर बतलाई कठिनाई के सिवा एक दो कठिनाइयां और हैं । 'यास्मिन्' का क्या अर्थ किया जाय ? विरोध किसका किससे माना जाय ? शामशास्त्रीजी ने 'यास्मिन्' के बदले whenever रखा है और चरित्र या व्यवहार का विरोध धर्म से माना है । पहले दो चरणों से यह मान नहीं सकते, वहां तो 'संस्था' और 'धर्मशास्त्र' से व्यावहारिक शास्त्र का विरोध बतलाया जान पड़ता है । हां, दूसरे दो चरणों से ऐसा जान पड़ता है कि इस श्लोक में 'संस्था' और 'व्यावहारिक शास्त्र' का विरोध धर्मशास्त्र से बतलाया होना चाहिए । हमारी ऐसी समझ है कि यह श्लोक ठीक नहीं है । इसका कुछ दूसरा ही रूप होना चाहिए ।

† यहां 'पाट' के स्थान में 'पाठ' ही मानना चाहिए और दूसरे 'तत्र' के स्थान में 'यत्र' ।

देख पड़ता है। परन्तु धर्मन्याय का क्या अर्थ है? हमें तो यहाँ क़ानून का पाँचवाँ भेद 'न्यायबुद्धि' देख पड़ता है।

दीवानी अदालतों के कार्यों के संचालन और नियमन के लिए कौटिल्य ने अनेक नियम यानी क़ायदे भी दिये हैं। करार, विवाह, स्त्रीधन, आधिवेदनिक (पुरुषों के बहुविवाह करने पर दिया जानेवाला हर्जाना), पत्नी के कर्तव्य, स्त्री-भरण-पोषण, पत्नी के प्रति क्रूर व्यवहार, पति-पत्नी के बीच द्वेष, पत्नी के अनुचित व्यवहार, पत्नी का घर से बाहर घूमते रहना या भाग जाना, पति का अल्प या दीर्घ काल प्रवास के लिए जाने पर पत्नी क्या करे, दायविभाग (आनुवंशिक जायदाद के विभाग), अंशविभाग (जायदाद के सम्बन्धी विशेष अधिकार), पुत्रविभाग (पुत्रों के परस्पर अधिकार), गृहवास्तुक (घर, ज़मीन आदि), वास्तुविक्रय, विवीत*, क्षेत्र-पथ को ख़राब करना, किये करारों को न पालना, क़र्ज़ की वसूली, धरोहर, दास और मज़दूर, सम्भूय-समुत्थान (सहकारिसंस्था), बिक्रीख़रीद को तोड़ना, दान को वापस लेना, अधिकार न रहने पर भी किसी चीज़ को बेंच देना, स्वामित्व का अधिकार, लूट, अपकीर्ति, मारपीट, द्यूत-पण वग़ैरः आदि आदि अनेक बातों के नियम कौटिल्य ने दिये हैं। इन नियमों का सारांश भी देने से कई पृष्ठ लग

* चरागाह।

जावेंगे। उस प्राचीन समय में इतनी बातों के नियम थे, यही ख़याल में रखने लायक़ है। इनमें से कई नियम आज भी देख पड़ते हैं। कोई इन नियमों के विषयों को देखकर कहेगा कि इनमें तो कई विषय ऐसे हैं, जो फ़ौजदारी क़ायदे में आने चाहिए। इसका उत्तर यह है कि उन अपराधों का दोष क्षतिपूर्ति से उस समय हो जाता था और उनमें से कुछ का तो आज भी होता है। फिर यह स्मरण रखना चाहिए कि दीवानी और फ़ौजदारी का बहुत सूक्ष्म भेद कहीं न था। तीसरी बात यह है कि दीवानी और फ़ौजदारी का आज जो अर्थ है, वह अर्थ उस समय न था। उस समय राज्य के विरुद्ध अथवा उसकी आज्ञाओं के विरुद्ध किये गये कार्य फ़ौजदारी में आते थे। ऐतिहासिक दृष्टि से सबही देशों में यही परिभाषा लागू होगी। शेष सब, यहाँ तक व्यक्ति के विरुद्ध किये गये सब अपराध, दीवानी में शामिल होते थे और उनके लिए क्षतिपूर्ति का नियम भी बहुतेरे देशों में रहा है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि उनका समावेश दीवानी झगड़ों में होता था। धीरे धीरे ही व्यक्ति-सम्बन्धी और व्यक्तिधन-सम्बन्धी अपराध फ़ौजदारी माने गये। कौटिल्य ने जो नियम दिये हैं वे उस काल की दृष्टि से यथेष्ट हैं।

दीवानी क़ायदों के नियम ही नहीं बल्कि दीवानी अदालत की कार्यवाही के नियम भी कौटिल्य ने दिये हैं। "पहले, संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, दिवस, झगड़े के मूल का स्वरूप और

स्थान, ऋण, फिर वादी-प्रतिवादी का देश, ग्राम, जाति, गोत्र, नाम, कर्म (धंधा) लिखा जाय। वादी और प्रतिवादी अपने अपने कार्य के लिए समर्थ रहें। तदनंतर, उस मामले की ज़रूरत के क्रम से दोनों पक्षों के कथन (बयान) लिखे जायँ। फिर, इन बयानों की ख़ूब जाँच की जाय।" "यदि मामले का मूल प्रश्न छोड़कर कोई पक्षकार कुछ अन्य बात उठावे, यदि पहला बयान तदनन्तर के बयान से असंगत हो, अग्राह्य होने पर भी किसी तीसरे के मत लेने पर ज़ोर दे, कहने की परवानगी मिलने पर भी आधी बात कहने पर बीच ही में बोलना बंद कर दे, निर्दिष्ट प्रश्न छोड़कर अन्य प्रश्न छेड़े, निजी बयान वापस ले ले, अपने गवाहों के बयानों को स्वीकार न करे, और जहाँ न बोलना चाहिये वहाँ अपने गवाहों से गुप्त बातचीत करे तो वह परोक्त दोष का भागी होगा। और इसके लिए मामले की रक़म का पाँच-गुना दण्ड होगा। बिना सबूत के बयान के लिए दसगुना दण्ड होगा। रक़म का एक अष्टमांश गवाहों को देना होगा। प्रवास-ख़र्च के लिए गवाहों को रक़म के अनुसार ख़र्च देना चाहिए।

प्रतिवादी का बयान होने पर वादी तुरंत अपना उत्तर दे। नहीं तो वह परोक्त दोष का भागी होगा क्योंकि वादी को मामले की सब बातें मालूम रहती हैं, प्रतिवादी को नहीं। प्रतिवादी को अपने बयान के लिए तीन या सात रात्रि देनी चाहिए। यदि वह इतने समय में अपना बयान तैयार

न करे तो उसका तीन से बारह पण तक दण्ड होगा। यदि वह तीन पक्ष के बाद भी बयान न दे सके तो परोक्त का दण्ड उसे देना होगा और वादी प्रतिवादी की जायदाद से अपनी रक़म वसूल कर सकेगा। (यानी, आजकल की भाषा में, उसे डिग्री मिल जावेगी)। परन्तु यदि मामला प्रत्युपकरण (प्रत्युपकार) के सम्बन्ध का हो तो नहीं (यानी वादी अपनी रक़म प्रतिवादी की जायदाद से वसूल न कर सकेगा)। प्रतिवादी यदि अपना बयान सिद्ध न कर सके तो उसे भी वही दण्ड देना होगा। यदि वादी अपना कथन सिद्ध न कर सके तो वह परोक्तदोषी होगा। यदि वह किसी मृत वा रुग्ण मनुष्य के विरुद्ध मामला खड़ा करने पर उसे सिद्ध न कर सके तो वह दण्ड तो देगा ही परन्तु गवाहियों के कहे अनुसार मृतकर्म भी करेगा। यदि वह अपना मामला सिद्ध कर सका तो उस जायदाद पर उसका अधिकार होगा।" मृत या रुग्ण मनुष्य के विरुद्ध मामला सिद्ध करने पर जो दण्ड यहाँ बतलाया है, वह केवल ब्राह्मण के लिए ही है। "यदि वह ब्राह्मण न हो तो वह (अपना मामला सिद्ध न कर सकनेवाला वादी) ऐसे कार्य करे कि जिससे राक्षस आदि दूर भाग जायँ।"

कण्टक-शोधन यानी फ़ौजदारी मामलों को तीन प्रदेष्टा या तीन अमात्य निपटावें। कण्टक-शोधन में कारुक-रक्षण (कारीगरों की रक्षा), व्यापारियों की रक्षा, राष्ट्रीय संकटों के

उपाय, अनुचित उपायों से जीवन-निर्वाह करनेवालों का प्रतिकार, बहुधा अपराध करनेवाले युवकों को पकड़ना, शंका आने पर या अपराध करते समय अपराधियों को पकड़ना, आकस्मिक मृत्यु की जाँच, सरकारी भृत्यों के अपराध तथा उनकी रक्षा, अवयवभंग के बदले क्षतिपूर्ति, ख़ून और मृत्यु, कन्याप्रकर्म (अस्नात बालिकाओं से व्यभिचार), अधिकार या स्वतन्त्रता का अतिक्रमण, आदि अनेक बातों के नियम कौटिल्य ने दिये हैं। इस सूची में कई ऐसे विषय शामिल हैं जो स्पष्टतया यहाँ नहीं बतलाये हैं। उदाहरणार्थ, अनुचित उपायों से जीवन-निर्वाह करने के उपायों में जाली सिक्के बनाना भी शामिल किया है और उसके प्रतीकार के लिए दण्ड के नियम दिये हैं। यहाँ हमारा उद्देश नियम बताने का नहीं बल्कि न्याय-शासन-व्यवस्था बताने का है; इस कारण विस्तारपूर्वक नियम बतलाने से कोई विशेष लाभ नहीं। इतना हम कह सकते हैं कि यूरोप के कई देशों में उस समय जिन अपराधों की कल्पना तक न थी, फिर राज्य उनके प्रतीकार का उपाय करे यह बात ही कहाँ, उस समय यहाँ इन सब अपराधों से बचाने के उपाय राज्य के कर्तव्य में शामिल थे। ऊपर हम कह आये ही हैं कि दीवानी और फ़ौजदारी का सूक्ष्म भेद कहीं भी न था, फिर हिन्दुस्तान में ही उसकी आशा क्यों करनी चाहिए? थोड़े बहुत दीवानी मामले फ़ौजदारी में या थोड़े बहुत फ़ौजदारी मामले दीवानी में होना स्वाभाविक

ही था। इसके कारण ऊपर बतला ही आये हैं। दण्ड की रीतियों में बहुधा तीन प्रकार विशेष देख पड़ते हैं। (१) शारीरिक दण्ड, (२) क्षतिपूर्ति और (३) मृत्यु। और वे इतने कड़े रहते थे कि आज उन्हें कोई भी कठोर ही कहेगा। हम यहाँ पर दण्ड-विधान के तत्त्वों का विवेचन करके कौटिल्य के दण्ड-विधानों को जाँचना नहीं चाहते। ऐतिहासिक दृष्टि से इतना कह सकते हैं कि इसका परिणाम देश में भला ही देख पड़ा है और इस बात का साक्षी मैगस्थनीज़ जैसा विदेशीय पुरुष भी है। कई बातें देश और काल के अनुसार ठीक होती हैं। और यदि उनसे उनका उद्देश सिद्ध हुआ तो जब तक उसमें नैतिक अनौचित्य न देख पड़े तब तक उसे बुरा कहना ठीक नहीं।

फ़ौजदारी मामले सिद्ध करने की रीति उतनी ठीक नहीं मालूम होती। "अभियुक्त भले ही विदेशीय हो या फ़र्यादी का नातेदार हो, उसके बचाव के साक्षियों को फ़र्यादी के सामने उसके देश, जाति, गोत्र, नाम, कर्म (धन्धे), जायदाद, मित्र, और निवास के विषय में प्रश्न करना चाहिए। फिर गवाह के बयान खुद अभियुक्त के बयान से मिलाये जायँ। फिर उससे पूछा जाय कि चोरी की रात के दिनमान में तुमने क्या क्या काम किया और पकड़े जाने के पहले रात कहाँ कहाँ बिताई। यदि उसके ये बयान विश्वासयोग्य लोगों के बयानों से मिलें तो

वह निर्दोष समझा जाय। अन्यथा, उसे 'कर्म'* मिलना चाहिए।"

"अपराध के तीन दिन के बाद किसी शङ्कित (जिसके अपराधी होने की शंका हो) को न पकड़ना चाहिए। हाँ, यदि सबूत काफ़ी हो तो बात अलग है।"

"जो लोग किसी निर्दोष पुरुष को चोर बतलावें या चोर को अपने घर छुपावें, उन्हें ख़ुद चोर के समान दण्ड देना चाहिए।"

"जिस पर चोरी का इलज़ाम लगाया गया हो वह यदि सिद्ध कर सके कि फ़र्यादी मेरी शत्रुता या द्वेष करता है तो से निर्दोष समझ कर छोड़ देना चाहिए। यदि कोई किसी निर्दोषी पुरुष को पकड़ कर रखे तो उसका 'पूर्वसाहसदण्ड' होना चाहिए।"

दोष सिद्ध करने के दो उपाय देख पड़ते हैं। एक तो सबूतें और दूसरे 'कर्म'। किसी अभियुक्त का दोष सिद्ध करने के लिए ऐसी सबूतें चाहिए—उसके उपयोग में लाये

---

* यहाँ 'कर्म' का अर्थ बिलकुल भिन्न है। अपराध स्वीकार करवाने के लिए अभियुक्त को कई प्रकार के कष्ट देने की प्रथा कई देशों में थी। इसी को यहाँ 'कर्म' कहा है। यह 'दिव्य'-प्रथा का कुछ सुधरा हुआ छोटा भाई है। और अब तक कई देशों में (इनमें कई सभ्य कहे जानेवाले राज्य-शासन भी शामिल हैं) व्यवहार में (क़ानून से निषिद्ध होने पर भी) यह प्रथा जारी है।

औजार, उसके साथी या सलाहकार, चोरी की वस्तु, और उस वस्तु को बेंचने या लेनेवाले मध्यस्थ। इन बातों का मिलान चोरी के स्थान और उस वस्तु के लेन-देन की परिस्थिति से किया जाय। यदि सबूत न हों और चोर रोता हो तो वह निर्दोष समझ कर छोड़ दिया जाय। क्योंकि चोर न होनेवाला चोरी के स्थान में देख पड़ सकता है, या उसका रूप, पोशाक, औज़ार, वस्तुएँ चोरी की वस्तुओं से मिल सकती हैं या वह आकस्मिक उन वस्तुओं के समीप देख पड़ सकता है। "माण्डव्य ने 'कर्म' के भय से चोरी का दोष स्वीकार कर लिया था। निर्दोषी भी (कई बार) चोर समझ कर पकड़ा जाता है। इसलिए (दोष सिद्ध करने के लिए) भरपूर सबूत मिलना चाहिए।"

"मन्दापराध (जिसका अपराध बिलकुल तुच्छ हो), बालक, वृद्ध, व्याधित, मत्त, उन्मत्त (पागल), क्षुधा, प्यास या चलने के कारण थकावट से पीड़ित, ख़ूब भोजन किये हुए, अपना अपराध स्वीकार किये हुए या दुर्बल को 'कर्म' का क्लेश न देना चाहिए।"

सबूत मिलाने के लिए जासूसों का भी उपयोग होता था। कौटिल्य ने यह बात स्पष्टतया बतलाई है। "जो वास्तव में दोषी समझे जायँ उन्हीं को 'कर्म' का क्लेश दिया जाय। परन्तु गर्भिणी स्त्रियों को या प्रसूति के बाद एक मास न बीते स्त्रियों को 'कर्म' का कष्ट न देना चाहिए। (जब कभी नियमानुसार

उन्हें 'कर्म' का क्लेश दिया ही जाय तो) वह स्त्रियों के लिए पुरुषों का आधा रहे। अथवा, स्त्रियों के (अपराध की) जाँच वाक्यानुयोग (जिरह) द्वारा की जाय।" ब्राह्मणों, श्रुतिज्ञों और तपस्वियों के लिए कर्मक्लेश नहीं बताये हैं। उनके पीछे जासूस लगा देना चाहिए (और उनके अपराधों को पकड़ना चाहिए)। "ब्राह्मण का अपराध चाहे जैसा बड़ा क्यों न हो, उसे 'कर्मक्लेश' न देना चाहिए।" ब्राह्मण के लिए दण्ड भी हलके ही बताये हैं। भारी भारी अपराधों के लिए "ब्राह्मण के चेहरे पर अपराधव्यंजक दाग लगा देना चाहिए; उदाहरणार्थ, चोरी के लिए कुत्ते का चिह्न, ख़ून के लिए बिना सिर के शरीर का चिह्न, गुरुपत्नी से व्यभिचार करने के लिए स्त्री-भग का चिह्न, मदिरा पीने के लिए मद्यध्वज। इस प्रकार (ललाट) अंकित कर और व्रण करके राजा चाहे तो उसे देश से निकाल दे अथवा खानियों में (काम करने को) भेज दे।"

"यदि कोई इन नियमों का उल्लङ्घन करे तो उसका 'पूर्व-साहसदण्ड' होगा। यदि कोई 'कर्मक्लेश' के कारण किसी की मृत्यु कर बैठे तो उसे भी मृत्युदण्ड दिया जाय।"

'कर्म' के चार भेद हैं; (१) छः प्रकार के दण्ड, (२) सात प्रकार की मार का (बेत का) दण्ड, (३) दो प्रकार के उपरिनिबन्ध (घोड़ी की सजा), (४) उदक-नालिका।........." अभियुक्त के चोरी के साधन (यथा रस्सी वग़ैर:) गदहे पर रख कर घुमाये जायँ।" इसके बाद

शायद चोर के नाम की मुनादी भी की जाती रही होगी। (यदि अभियुक्त अपना अपराध जल्द स्वीकार न करे तो) "प्रत्येक दिन अलग अलग प्रकार का 'कर्मक्लेश' देना चाहिए।" "परन्तु जिन्होंने पहले धमकी देकर फिर चोरी या लूट की हो, या जिन्होंने चोरी किये माल का थोड़ा बहुत उपयोग किया हो, या जो चोरी करते समय या चोरी के माल के साथ पकड़े गये हों, या जिन्होंने राजकोष के अपहरण का प्रयत्न किया हो, या जिन्होंने मृत्युदण्ड के लायक़ अपराध किया हो उन्हें राजा के कहने पर एक बार या कई बार एक प्रकार का या अनेक प्रकार का 'कर्मक्लेश' दिया जाय।"

इस विवेचन में चोरी का ही विशेष उल्लेख है। परन्तु दूसरे अपराधों की सबूती के लिए ये ही रीतियाँ बतलाई जान पड़ती हैं। क्योंकि उनके लिए कोई अलग रीति नहीं है; दूसरे, इसी विवेचन में कहीं कहीं दूसरे अपराधों का भी उल्लेख है।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि राजा भी स्वयं न्यायाधीश का काम करता था। परन्तु उसके पास राजधानी के लोग अथवा राजधानी को जाने का कष्ट और ख़र्च उठानेवाले लोग ही पहुँच सकते थे। अपील का उपाय था या नहीं, यह हम इस ग्रंथ से नहीं बतला सकते।

सारांश, उस समय भी दोनों प्रकार के कार्यों की अदालतें थीं, दोनों प्रकार का क़ानून था, मामले चलाने की अलग

अलग रीतियाँ थीं और भिन्न भिन्न प्रकार के दण्ड थे। देश और काल के अनुसार वे बातें आज से भिन्न थीं इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उस काल में इतनी भी न्याय-व्यवस्था पृथ्वी के कई देशों में न थी।

अध्याय ९

राज्य का आय-व्यय।

राज्य के सु-प्रबन्ध के लिए धन चाहिए। इसीलिए प्रजा से कर-रूप में द्रव्य लिया जाता है। कर के सिवा राज्य की आय के और भी कुछ मार्ग हो सकते हैं। कौटिल्य ने राज्य की आय के कौन कौन से मार्ग बतलाये हैं?

कौटिल्य कहता है, "दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज, और वणिक्पथ (की आय) पर राजा ध्यान दे।"

दुर्ग (की आय) में (ये मार्ग और विभाग) सम्मिलित हैं—"शुल्क, दण्ड, पौतव, नागरक, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुरा, सूना, सूत्र, तैल, घृत, क्षार, सौवर्णिक, पण्यसंस्था, वेश्या, द्यूत, वास्तुक, कारुशिल्पिगण, देवताध्यक्ष, द्वारबाहिरीकादेय"।

अब इनके अर्थ और व्याप्ति के स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। पहले बतला ही चुके हैं कि शुल्क को आजकल की भाषा में चुंगी कह सकते हैं और वह नगर में आनेवाले माल

होती थी। 'नागरक' का आय-सम्बन्धी अर्थ कहीं भी नहीं देख पड़ा। श्री शामशास्त्रीजी ने उसका अँग्रेज़ी अनुवाद town-clerk किया है। परन्तु इस अनुवाद से आय-सम्बन्धी अर्थ का बोध कैसे हो? यदि यह मान लें कि नगर में होनेवाली समस्त आय इसके अन्तर्गत है तो अतिव्याप्ति का दोष होता है क्योंकि उसमें दुर्ग के विभाग में बतलाये हुए सब ही आय-साधन आ जाते हैं और 'नागरक' तो उसका एक भाग है। यदि नगर में लिये जानेवाले शुल्क को नागरक कहें, तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'शुल्क' को अलग बतलाने की क्या आवश्यकता थी? नागरक का एक अर्थ 'नगराध्यक्ष' हम पहले ही बतला चुके हैं। इसी के आधार पर इस शब्द का आय-सम्बन्धी अर्थ निकाला जा सकता है। हम समझते हैं कि जो आय जिस विभाग-द्वारा होती थी, उस आय को उसी विभाग के नाम से कौटिल्य ने सम्बोधित किया है। नागरक के विभाग से भी आय हो सकती थी। उसी का यहाँ आय बतलाते समय उल्लेख किया है। इस पर अब कोई प्रश्न करे कि नागरक के विभाग से तो कोई आय नहीं हो सकती—उसका काम तो केवल शासन था, फिर नागरक से आय का क्या सम्बन्ध? इस पर हमारा यह उत्तर है कि नागरक कई लोगों का अपने अपने कर्तव्यों के नियमों को न पालने पर दण्ड कर सकता था। यहाँ नागरक के विभाग की आय से इसी दण्डरूपी आय का बोध होता है। एक बात हम

और स्पष्ट कर देना चाहते हैं। वह यह है कि आय का वर्णन करते समय जब कभी किसी विभाग का उल्लेख कौटिल्य ने किया है, वहाँ उस विभाग के द्वारा होनेवाली प्रत्यक्ष आय और नियमों के उल्लङ्घन के कारण होनेवाली आय दोनों शामिल हैं। नागरक के विभाग से प्रत्यक्ष आय कोई न थी, इस कारण नागरक के किये 'दण्ड' रूपी आय को ही वहाँ आय की दृष्टि से नागरक कहा है। हमने अभी बताया है कि विभाग की आय को ही यहाँ विभाग के नाम से संबोधित किया है। इसी दृष्टि से, सुरा, सूना, सूत्र, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सौवर्णिक, पण्यसंस्था, वेश्या, आदि का उल्लेख है। इन विभागों के कर्त्तव्यों का उल्लेख हम एक परिच्छेद में कर चुके हैं। इसलिए उन विभागों से होनेवाली आयों को फिर से बतलाने की आवश्यकता नहीं। सूना की आय के सम्बन्ध में यह और बतलाना आवश्यक है कि शिकार किये हिंसक प्राणियों का एक षष्ठांश, मछली और पक्षियों का एक दशांश या इससे कुछ अधिक, इसी प्रकार मृगपशु (यानी पालतू जानवरों) का एक दशांश या इससे कुछ अधिक सूनाध्यक्ष (यानी सरकार कर-रूप में) ले। ये भाग लेने की क्या व्यावहारिक रीति थी, यह कहीं नहीं बतलाया है। परन्तु इससे यह स्पष्ट होता है कि मांस बेंचने की सरकारी दूकान भी रहती थी। तैल और घृत से किस प्रकार आय होती थी, यह बतलाना कठिन है। अनुमान यह होता है कि उनके ऊपर सरकारी

कर था। और क्षार से मतलब निमक का तो नहीं वरन् शास्त्रीय रीति से कहे जानेवाले क्षार (chemical salt) का है। जान पड़ता है इनके बनानेवालों से कर लिया जाता था। पहले हमने 'क्षार' का मतलब रोज़ के खाने के निमक को छोड़ बाक़ी निमक किया था। यहाँ पर 'क्षार' का वही मतलब करने में एक आपत्ति है। वैसे 'क्षार' 'खनि' के भीतर वहाँ बताये देख पड़ते हैं क्योंकि उनका अधिकारी 'खन्यध्यक्ष' बताया गया है। उस प्रकार के 'क्षार' की आय फिर 'खनि' के अन्तर्गत होनी चाहिए, दुर्ग के अन्तर्गत नहीं। आय का कौटिल्य का यह वर्गीकरण स्थानविशेष के अनुसार है। दुर्ग यानी शहर या नगर में समुद्र का या खानियों का क्षार कहाँ ? इसीलिए क्षार का अर्थ हमने शास्त्रीय रीति से बनाया हुआ क्षार किया है। उस समय भी द्यूत यानी जुए के खेल पर सरकार का बंधन था, परन्तु आज जैसा नहीं। द्यूताध्यक्ष जिस स्थान को निर्दिष्ट कर देता उसी स्थान पर जुआ हो सकता था। अन्य स्थान पर खेलने से खेलनेवाले दण्ड के भागी होते थे। ऐसे निर्दिष्ट स्थान थोड़े ही होने चाहिए ताकि उन पर देख-रेख रखने का काम सरल हो जाय। द्यूताध्यक्ष एक 'काकणि' (किराये के बतौर) लेकर पाँसे का एक जोड़ खेलनेवालों को दे। अन्य पाँसों से खेलनेवालों का जुर्माना किया जाय। यदि कोई असली पाँसे के बदले में दूसरे रख दे तो उसका बारह पण जुर्माना करना चाहिए। कूटकर्म यानी छल से खेलनेवाले

का 'साहसदण्ड' तो होता ही था, परन्तु धोखेबाज़ी और चोरी के लिए मिलनेवाला दण्ड भी उस पर लदता था और यदि वह कुछ जीतता तो वह भी ज़ब्त हो जाता था। जो कोई कुछ जीतता उसका पाँच सैकड़ा द्यूताध्यक्ष वसूल करता और पाँसे देने के लिए, खेलने के अन्य सुभीतों के लिए, पानी और स्थान देने के लिए भी द्रव्य लेता था। जुआ खेलने की परवानगी के लिए द्रव्य अलग देना होता था। इतने कई प्रकार की आय द्यूत के अन्तर्गत है। वास्तुक का अर्थ इमारती जमीन है। परन्तु उससे आय किस प्रकार होती थी, यह निश्चित तौर पर बतलाना कठिन है। एक तो यह अर्थ हो सकता है कि नया मकान बनाने के लिए कर देना होता था। दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि जितनी ज़मीन नजूल होती, वह सरकार जमा रहती और जिसको जितनी आवश्यक होती उतनी उसे उचित द्रव्य लेकर दे दी जाती थी। वास्तुक का अर्थ मकान नहीं बल्कि मकान की ज़मीन है, इसलिए दूसरा अर्थ संभवनीय होता है। आजकल भी म्यूनिसिपालिटियों को इस मार्ग से ख़ासी आय होती है। 'कारूशिल्पिगण' के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि कारीगरों के और शिल्पियों (यानी मिस्त्रियों) के गण यानी संघ या कारख़ाने थे और उन्हें कर देना होता था। 'द्वारबाहिरिकादेय' का अर्थ श्री शामशास्त्रीजी ने दिया है द्वार पर और बाहिरिक (नामक लोगों) से लिया जानेवाला कर।

परन्तु हम इस अर्थ को पूरा पूरा नहीं मान सकते। शास्त्रोजी का अर्थ पूरा पूरा मानने में एक आपत्ति है। 'द्वार' पर यानी 'दुर्ग' के 'द्वार' पर लिया हुआ कर शुल्क के अन्तर्गत है। उसकी पुनरुक्ति किस आधार पर हो सकती है। 'बाहिरिक' का अर्थ कोई जातिविशेष नहीं बल्कि बाहर से आये यानी विदेशीय लोग। बाहिरिक शब्द का उपयोग एक स्थान पर और हुआ है और वहाँ कहा गया है कि जिन बाहिरिकों से पुर और राष्ट्र को उपघात होने का डर हो, उन्हें दुर्ग में न रहने देना चाहिए। या तो उन्हें जनपद में निकाल बाहर किया जाय अथवा उनसे कर लिया जाय। यही कर 'बाहिरिकादेय' है। द्वारादेय का मतलब हमने 'भिन्न भिन्न विभाग और उनके कर्तव्य' नामक परिच्छेद में बतला ही दिया है। सारांश में उसे आजकल की एक्साइज ड्यूटी कह सकते हैं।

अब तक कौटिल्य के बतलाये आय के सात वर्गों में से एक वर्ग की आयों का विवेचन हुआ। अब दूसरे वर्ग का विचार करना चाहिए। सीता, भाग, बलि, कर, वणिक्, नदीपाल, तर, नौ, पट्टन, विवीत, वर्तनी, रज्जू और चोररज्जू 'राष्ट्र' के अन्तर्गत हैं। सीता यानी कृषि है परन्तु यहाँ पर राजभूमि की खेती से ही मतलब हो सकता है। भाग से उत्पत्ति के भाग का अर्थ होता है। बलि का अर्थ शास्त्रोजी ने किया है religious यानी धर्म-सम्बन्धी कर परन्तु उसका

विशिष्ट उदाहरण देना मुश्किल है। कर का अर्थ किया है नक़द दिया कर। 'देहात' के व्यापारियों से होनेवाली आय 'वणिक्' नाम से उल्लिखित है। तर यानी घाट-उतराई और नौ यानी बोट वग़ैरः का कर तो स्पष्ट है और यह हम पहले बतलाही चुके हैं, परन्तु नदी-पाल का अर्थ उतना स्पष्ट नहीं है। नदी से कई तरह की वस्तुएँ मिल सकती हैं। उनकी प्राप्ति का अथवा उन पर लिये जानेवाले करों का ही समावेश नदीपाल के भीतर हो सकता है। पट्टन का अर्थ और भी कठिन है। ऐसा जान पड़ता है कि बोटों को विश्राम लेने के लिए बड़े बड़े शहरों के पास आजकल के डाक् (dock) जैसे किसी प्रकार के घाट बनाये जाते थे। वहाँ पर ठहरने से उन बोटों को कर देना होता था। यही पट्टन हो सकता है। विवीत यानी चरी की ज़मीन से यथेष्ट आय हो सकती है। इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वर्तनी यानी सड़क का कर (road-cess) है। रज्जू और चोररज्जू से राज्य को किस प्रकार आय हो सकती है, यह बतलाना कठिन है। शामशास्त्री ने भी कहा है कि इसके ठीक अर्थ का पता नहीं।

खनि की आय को समझाना कठिन नहीं। सोना, चाँदी, हीरे, जवाहिर, मोती, मूँगा, शंख, लोहा, लवण, और समभूमि और पहाड़ों से निकलनेवाले इतर रस और

धातु खनि की आय में आते हैं। हिन्दुस्तान में उस समय अनेक खनिज पदार्थ निकलते थे और उनमें से बहुतेरे गलाये जाकर नाना उपयोगों में आते थे। कुछ खदानों को खोदने का काम राज्य की ओर से होता था, तो कुछ खानें ठोके पर दी जाती थीं।

फूलों और फलों के बाग़, शाक-भाजी के बाग़, केदार और मूलवाप सेतु में आते हैं। केदार का अर्थ शास्त्रीजी ने (Wet field) दिया है। माना कि इस शब्द का एक अर्थ यह होता है। परन्तु गीले खेतों से आमदनी किस प्रकार हो सकती है? इसका अर्थ इसलिए कुछ भिन्न जान पड़ता है। जिन गहरे खेतों या तालों में पानी भरा रहता और उनसे सिँचाई की जाती थी, उन्हें ही यहाँ केदार कहा है। उन्हें हम बाँध कह सकते हैं। उस समय सिँचाई का काम अच्छा होता था, और उससे राज्य को प्राप्ति भी होती थी। मूलवाप यानी वे चीज़ें कि जिनको पैदा करने के लिए बीज नहीं बल्कि मूल (के टुकड़े) लगाना पड़ते थे। गन्ने की पैदाइश इसका एक उदाहरण है। शिकार के वन, इमारती लकड़ी के वन, और हाथियों के वन की आय हैं। आश्चर्य है कि कुप्याध्यक्ष के कर्तव्य बतलाते समय जंगली चीज़ों और उनके कारख़ानों के नाम आये हैं, परन्तु आय के साधनों में उनका उल्लेख नहीं है।

गाय-बैल*, भैंस-भैंसे, बकरे-बकरियाँ, गधे, ऊँट, घोड़े और खच्चर व्रज में शामिल हैं।

स्थल-मार्ग और जल-मार्ग वणिक्पथ में आते हैं। इससे सूचित होता है कि स्थल-मार्ग या जल-मार्ग से व्यापार करनेवालों को मार्ग से लाभ उठाने के बदले कर देना होता था।

ख़र्च के मार्ग थोड़े में बतलाये जा सकते हैं:—(१) देवपूजा, पितृपूजा, दान, स्वस्तिवाचन, अन्तःपुर, पाकशाला, दूत-विभाग, कोष्ठागार, आयुधागार, पण्यगृह, कुप्यगृह, कर्मान्त (कारख़ाने), विष्टि, चतुरंग सेना, गोमण्डल, पशु-मृग-पक्षी-व्याल के कौतुकालय, काष्ठ और तृण के आलय।

तर्क की दृष्टि से कौटिल्य के बताये आयव्यय के वर्गीकरण संतोषदायक नहीं जान पड़ते। आय का ऊपर जो वर्गीकरण बतलाया है वह स्थानविशेष के अनुसार किया हुआ है। रीतिविशेष के अनुसार यह कोई अच्छा वर्गीकरण नहीं देख पड़ता। तथापि यह कहना पड़ता है कि उस समय भी आय के अनेक साधन थे। इसी से राज्य-प्रबंध की परिपूर्ण दशा का पता लगता है। जिस समय रेल-तार आदि साधन न थे, उस समय यदि आय के इतने साधनों पर सरकार का नियंत्रण चल सका तो यही कहना चाहिए कि राज्यशासन

* गो का अर्थ यहाँ केवल गाय नहीं, बल्कि बैल भी उस शब्द में शामिल हैं। शास्त्रीजी ने गो का अर्थ केवल cow किया है। यहाँ पर 'गोमहिषमजाविकं खरोष्ट्रमश्वाश्वतराश्च व्रजः' कहा है। किसी एक लिंग का शब्द होने पर भी प्रत्येक शब्द का यहाँ उभयलिंगी अर्थ है।

का कार्य अच्छी समुचित रीति से चलता था। आज के आय-साधनों में से कुछ साधन उस समय न थे, परन्तु देश-काल के अनुसार इतना थोड़ा सा अन्तर होना स्वाभाविक ही है। उस समय के इन अनेक करों को देखकर कोई यह कहेगा कि वे तो आज के प्रमाण से बहुत अधिक हैं। हाँ, यह माना जा सकता है, परन्तु इसके साथ दो चार बातें स्मरण में रखनी चाहिए। आजकल के अत्यन्त विशाल प्रमाण का व्यापार और कारख़ाने उस समय न थे। कुछ थोड़े अत्यन्त श्रीमान् तो बाक़ी लोग ग़रीब, ऐसी स्थिति उस समय न थी। कलपुर्ज़ों का आज जैसा कठोर अन्याय घरू उद्योग-धंधों पर न चलता था और इस कारण बहुतेरे अपने अपने घरों में अपने अपने उद्योग-धंधे करके यथेष्ट धन-प्राप्ति कर सकते थे। दूसरे, उस समय जो कुछ धनोत्पत्ति होती थी वह बहुधा इसी देश में बनी रहती थी। जिस देश का धन व्यापार के रूप से दूसरे देशों में गत ढाई-तीन सौ वर्षों से चला जा रहा है, वह देश ग़रीब न हो तो कौन हो? और उस देश को एक पाई का भी अधिक कर बड़ा भारी जान पड़े इसमें कोई आश्चर्य नहीं। भर्तृहरि ने इस विषय में क्या ही अच्छी नीति बतलाई है:—

राजन् दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतां
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः॥

तीसरी बात यह है कि आजकल विलास के साधन तो बहुत बढ़ गये, परन्तु उसी प्रमाण से उत्पत्ति के साधन न बढ़े। चौथे, मनुष्य-संख्या की जितनी वृद्धि हुई है, उसी मान से आय-साधनों में वृद्धि नहीं देख पड़ती। अब कर के विरुद्ध एकदम आन्दोलन मच जाता है और उस समय अनेक करों के रहने पर भी लोग समृद्ध थे। इस भेद के भीतर इन अनेक कारणों से उत्पन्न होनेवाली ग़रीबी की दशा है।

व्यय की मदों को देखते एक बात बड़ो स्पष्ट है कि राज-व्यय और राज्य-व्यय में कोई भेद नहीं देख पड़ता। दोनों ऐसे मिले देख पड़ते हैं कि मानों राज-व्यय भी राज्य-व्यय के अनुसार किंवा उससे कुछ अधिक आवश्यक है। इससे यह अनुमान निकलता है कि राज्य-कोष और राज-कोष में कोई भेद नहीं था—सारा कोष राजा का ही था और वह चाहे जिस बात के लिए चाहे जितना ख़र्च करवा सकता था। सारांश, इस बात में भो राजा की सत्ता अनियंत्रित थी। व्यय की मदों को देखते कुछ बातें और कही जा सकती हैं। राज्य के शासन के लिए सर्व आवश्यक ख़र्च होता ही था, परन्तु राज्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कारख़ाने भी बनाता था और चोज़ें लोगों को भी बेंचता था। प्राप्ति की दृष्टि से इनकी प्राप्ति का समावेश 'पण्यसंस्था' या व्यापार-विभाग में रहा होगा। उस समय भी राज्य की ओर से कौतुकालय थे। कह नहीं सकते कि ये केवल राजपरिवार के आनन्द के लिए थे अथवा

लोग भी उन्हें देखकर आनन्द-लाभ कर सकते थे। आश्चर्य की बात है कि ख़र्च की मदों में सरकारी नौकरों का वेतन शामिल किया नहीं देख पड़ता। इसी प्रकार, कई अन्य विभागों के ख़र्चों का उल्लेख यहाँ नहीं है। उन पर किया जाने वाला ख़र्च यथेष्ट ही रहा होगा। फिर, न जाने ख़र्चों की मदें बतलाते समय ये बातें कैसे छूट गईं।

इस अध्याय का परिशिष्ट

कौटिल्य-काल के सिक्के

कौटिल्य ने तुलामान, देशमान और कालमान का वर्णन स्पष्टतया किया है, पर सिक्कों के मान का वर्णन अच्छी तरह कहीं नहीं दिया है। इस विषय का जो कुछ वर्णन है, वह केवल दूसरे अधिकरण के ३३ वें अध्याय में। हाँ, सिक्कों के नामों के उल्लेख प्रसंगवश कई स्थानों पर आये हैं, पर उनसे हमें इस विषय का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता। उपरिलिखित अध्याय में केवल यह वर्णन है:—

"लक्षणाध्यक्षः चतुर्भागताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनानामन्यतमं माषबीजयुक्तं कारयेत्।

पणमर्धपणं पादमष्टभागमिति; पादाजीवं ताम्ररूपं माषकमर्धमाषकं काकणीमर्धकाकणीमिति।

रूपदर्शकः पणयात्रां व्यावहारिकीं कोशप्रवेश्यां स्थापयेत् ।"

लक्षणाध्यक्ष (सिक्कों का अधिकारी) चार भाग ताँबा और तीक्ष्ण-त्रपु-सीसा-अञ्जन में से किसी एक धातु का एक माशा डाल कर चाँदी के सिक्के बनवावे ।

(वे) पण, अर्धपण, पाद यानी चतुर्थपण, अष्टभाग पण (रहें)। पादाजीव* यानी धातुओं के संमिश्रण के ताम्बे के सिक्के माषक, अर्धमाषक, काकणी, और अर्धकाकणी (रहें)।

रूपदर्शक (यानी सिक्कों को जाँचनेवाला) "व्यावहारिकी यानी व्यवहार में आने के सिक्कों का तथा 'कोशप्रवेश्या' यानी ख़ज़ाने में आने के सिक्कों का नियमन करे।"

उपरिलिखित वाक्यों का अर्थ कुछ संदिग्ध अवश्य है। पहले वाक्य में यह बतलाया है कि चाँदी के सिक्के में चार भाग ताँबा रहे और एक माशा किसी अन्य धातु का। परन्तु यहाँ स्पष्ट बतलाया नहीं कि चाँदी के किस सिक्के में। वे तो चार हैं—पण, अर्धपण, चतुर्थपण और अष्टभागपण। इसका अर्थ अनुमान से ही लगाना होगा। व्यवहार में जब कभी इस तरह किसी सिक्के का नाम स्पष्टतया नहीं लेते तब बहुधा उस जाति के मुख्य सिक्के से मतलब रहता है। इस-

---

* टीकाकार ने कहा है कि इसमें चार भाग चाँदी, ग्यारह भाग ताँबा और एक भाग तीक्ष्ण या अन्य किसी धातु का रहे।

लिए हम समझते हैं कि ये प्रमाण 'पण' की धातुओं के हैं। एक दूसरी बात भो अस्पष्ट है। यहाँ यह नहीं बतलाया है कि कितने में से चतुर्थ भाग ताँबा रहे। इसके निश्चय के लिए हमें अनुमान और तुलामान का आधार लेना होगा। चतुर्थ भाग से पूरे के चतुर्थ भाग का मतलब है। और एक माशा किसी अन्य धातु का रहे, कहा है। तुलामान में यह बतलाया है कि चाँदी के सोलह माशे का एक धरण होता है। पण चाँदी के मुख्य तौल के बराबर यानी धरण के बराबर रहा होगा। यानी उसमें सोलह माशे रहे होंगे। अर्थात् उसमें ११ माशे चाँदी, ४ मासे ताँबा और एक माशा किसी अन्य धातु का रहा होगा। फलतः यह अनुमान निकलता है कि पण में चाँदी का प्रमाण आजकल के रुपये से कम था। हाँ, हम स्पष्टतया कह नहीं सकते कि पण का भार आज-कल के रुपये के कितना था। तुलामान में चाँदी के माप और सोने के माप अलग अलग दिये हैं। इतना ही नहीं बल्कि चाँदी और सोने को छोड़ अन्य चीज़ों के तौल भी अलग अलग दिये हैं। और अनेक उल्लेखों से यह जान पड़ता है कि भिन्न भिन्न कार्यों के और भिन्न भिन्न चीज़ों के तौल भिन्न भिन्न थे।

ऊपर सोने के सिक्कों के नाम नहीं दिये हैं। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि कार्षापण ही उसका मुख्य सिक्का था और तुलामान से ऐसा जान पड़ता है कि वह ८० गुंजों या सोलह सुवर्ण-माशों के बराबर था। यानी भार में आजकल के रुपये

के ½ था। 'सुवर्ण-माषक' और 'रूप्यमाषक' के पृथक् पृथक् उल्लेख से यह स्पष्ट है कि उस समय सोने और चाँदी के माशे अलग अलग तौल के थे, आज जैसे उसी एक तौल के न थे। यह भी बतलाना कठिन है कि सोने के सिक्के के बदले चाँदी के कितने सिक्के मिलते थे।

टीकाकार ने कहा है कि तांबे के सिक्कों में चार भाग चाँदी रहती थी, ताँबा ग्यारह भाग और अन्य कोई धातु एक भाग। यह आज के सर्वथा विपरीत बात है। परन्तु चाँदी के और ताँबे के सिक्कों का परस्पर सम्बन्ध कहीं नहीं बतलाया है। कोशकार आपटे ने कहा है कि पण ताँवे का सिक्का होता था और वह मूल्य में ८० कौड़ी के बराबर रहता था। इसलिए टीकाकार का कहना कि ताँबे के सिक्कों में चार भाग चाँदी रहती थी किसी को भी शंकास्पद जान पड़ेगा। काकणी का मूल्य एक चतुर्थांश माषक यानी २० कौड़ी था। शायद व्यवहार में माषक नामक सिक्के को 'पण' ही कहते रहे होंगे। 'काकणी' का उपयोग कहीं कहीं तौल के लिए भी आया है। उदाहरणार्थ, पृष्ठ ८६ पर कहा है कि "शुद्धस्यैको हारिद्रस्य सुवर्णो वर्णकः। ततः शुल्ब-काकण्युत्तरापसारिता आचतुःसीमान्तादितिषोडशवर्णकाः।" इससे यह भी जान पड़ता है कि सोने, चाँदी और ताँबे के तौलों का कुछ सरल सम्बन्ध अवश्य था। अन्यथा, सोने के सम्बन्ध में 'काकणी' का उपयोग न किया होता।

परन्तु यह सम्बन्ध केवल पुस्तक के आधार पर बतलाना कठिन है।

अध्याय १०

कौटिल्य का "षाड्गुण्य"

राज्य के कहो अथवा व्यक्ति के कहो, उद्देश सफल होने के लिए दो बातों की अत्यंन्त आवश्यकता है। ये हैं शान्ति और उद्योग। "शमव्यायामौ योगक्षेमयोर्योनिः"।* प्रारम्भ किये कर्मों के फलनिष्पत्ति के लिए किये प्रयत्नों को व्यायाम (उद्योग) कहते हैं। और इन कामों के फलोपभोग में बाधा न पड़ने (की अवस्था) को शम (शान्ति) कहते हैं। शान्ति और उद्योग में बाधा दो प्रकार से हो सकती है; एक को आन्तरिक कह सकते हैं और दूसरी को बाह्य। कौटिल्य ने इस शास्त्रीय भेदीकरण के अनुसार इन बाधाओं का विचार नहीं किया है। तथापि यह स्वीकार करना चाहिए कि दोनों प्रकार की बाधाओं का भरपूर विचार इस ग्रंथ में हुआ अवश्य है। आन्तरिक बाधाओं से सामना करने का काम प्रतिदिन के शासन के छोटे छोटे कार्यों का है। परन्तु बाहरी बाधाओं के लिए नीति-विशेष की आवश्यकता अधिक होती है। इस नीति-विशेष को शासन-व्यवस्था में समाविष्ट करना उचित जान पड़ता है। इसलिए इसका विचार हम कौटिल्य की राज्य-शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत ही करेंगे।

---

* "अर्थशास्त्र" ६ अधिः २ अध्याय।

मनुष्य की स्थिति के तीन भेद हो सकते हैं, क्षय (गिरती-दशा), स्थान (अविचल दशा) और वृद्धि (उन्नति)। इन स्थितियों के कारणों के दो भेद हो सकते हैं, मानवी और दैवी। नय (नीति) और अपनय (अपनीति) मानुषी कारण हैं। अय और अनय दैवी कारण हैं। जिन कारणों को हम पहले से देख नहीं सकते, वे अदृष्ट होते हैं। परन्तु मानुषी कारणों को हम जान सकते हैं। और उनके लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। बाहरी बाधाओं से सामना करने के लिए जिन मानवी प्रयत्नों की आवश्यकता है, वे "षाड्गुण्य" अथवा 'षड्-गुणनीति' के अन्तर्गत हैं। उचित नीति से मनुष्य के प्रयत्न सफल हो सकते हैं। जो राजा इस प्रकार सफल (विजिगीषु) होना चाहता है उसे चाहिए कि वह 'प्रकृतिसम्पन्न'* (राज्यैश्वर्ययुक्त) रहे ही, अथच अपनी नीति भी ठीक रखे। कौटिल्य का एक मत हमें हमेशा ख़याल में रखना चाहिए। जिस प्रकार हाब्स यह सोच ही नहीं सकता कि समाज में थोड़ी बहुत शान्ति बनी रहने के कुछ स्वाभाविक कारण ज़रूर हैं, उसी प्रकार कौटिल्य यह सोच ही नहीं सकता कि अनेक राज्यों के बीच शान्तता रह सकती है। कुछ अंश में इन दोनों लेखकों के मत ठीक हैं, परन्तु सर्वांश में नहीं। परन्तु कौटिल्य का यही कहना है कि "किसी (विजिगीषु) राजा के राज्य से लगा

---

* स्वामी (राजा), अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र प्रकृति-सम्पत् (यानी राज्यैश्वर्य) हैं।

जिस राजा का राज्य है, वह शत्रु कहलाता है ।" जैसा संसार का अनुभव है, यह सत्य है कि दो पड़ोसियों के बीच कलह के कारण अधिक होते हैं और दो पड़ोसी राज्यों के विषय में यह बात अधिक घटित होती है । तथापि यह भी कभी कभी देखने में आता है कि दो पड़ोसी अच्छे मित्र होते हैं । परन्तु कौटिल्य इस बात को सोचही नहीं सकता । उसके "षाड्गुण्य" का सारा विवेचन इसी आधार पर स्थित है कि दो पड़ोसी राजा सदैव शत्रु होते हैं । 'एक राज्य से अलग परन्तु उसके पड़ोसी के राज्य से लगा हुआ राज्य पहले का मित्र होता है । इस प्रकार भूमि की दूरी के अनुसार सामने की ओर अरि के राज्य से लगकर विजिगीषु के मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र, अरिमित्रमित्र होते हैं ।' खेद है कि कौटिल्य ने मित्र और शत्रुओं की इस योजना का कोई स्पष्ट शब्दचित्र नहीं दिया । इस कारण, यह जानना बड़ा कठिन है कि इस योजना के लिए किस चित्र की कल्पना की जाय । कौटिल्य के स्वयंमन्य सिद्धान्त के अनुसार तो ऐसे राज्यों की योजना की कल्पना एक रेखा में ही करनी, होगी । 'पीछे की ओर पार्ष्णिग्राह (पिछली ओर का शत्रु), आक्रन्द (पिछली ओर का मित्र), पार्ष्णिग्राहासार (पार्ष्णि-ग्राह का मित्र) और आक्रन्दासार (आक्रन्द का मित्र) होते हैं ।' यहाँ पर 'पीछे' और 'सामने' का अर्थ स्पष्ट है नहीं । किसी व्यक्तिविशेष के शरीर की दृष्टि से, किसी दिशा-विशेष की दृष्टि से, स्थिति-विशेष की दृष्टि से, 'पीछे' और

'सामने' का कुछ विशिष्ट अर्थ होता है। परन्तु राज्य की स्थिति की दृष्टि से इन शब्दों का क्या अर्थ हो सकता है यह कह नहीं सकते। ऊपर कहे अनुसार पिछली ओर के शत्रु-मित्रों की कल्पना भी एक रेखा में करनी होगी। 'जो शत्रु निज समान उच्च कुलोत्पन्न है और राज्य से बिलकुल लग कर है, वह सहज (स्वाभाविक) शत्रु है। परन्तु जो शत्रु केवल स्वतः विरोध करता तथा विरोधी खड़े करता है वह कृत्रिम शत्रु है।' पहले तो कौटिल्य ने बतलाया कि राज्य से लगे हुए राज्य का राजा शत्रु होता है। इसी से ऐसा जान पड़ता है कि वह शत्रु स्वाभाविक है। शत्रु के 'सहज' और 'कृत्रिम' भेद कैसे हो सकते हैं? यहाँ पर 'सहज' और 'कृत्रिम' का केवल यही अर्थ हो सकता है कि एक कट्टर बैरी होता है, तो दूसरा केवल झगड़े खड़े किया करता है। 'शत्रु के राज्य से जिसका राज्य लगा हुआ है, जिससे कई पीढ़ी से सम्बन्ध है वह सहज मित्र है। जिसकी मित्रता धन-जीवित के लिए की जाती है, वह कृत्रिम मित्र है'। यहाँ पर अलबत्ता 'सहज' और 'कृत्रिम' के अर्थ कुछ ठीक हैं। 'जिसका राज्य अपने और शत्रु के राज्य से मिला हुआ है और जो शत्रु से मेल रहे या बेमेल रहे, दोनों अवस्थाओं में दोनों को सहायता कर सकता है और जो दोनों का अलग अलग सामना कर सकता है, वह 'मध्यम' (राजा) कहलाता है। जो इन राजाओं के पल्ले रहता है और जो शत्रु, विजिगीषु और

मध्यम को चाहे वे मिले रहें या न रहें, सहायता पहुँचा सकता है अथवा तीनों का अलग अलग सामना कर सकता है, वह 'उदासीन' (राजा) कहलाता है।' यहाँ 'उदासीन' का यही अर्थ हो सकता है कि यदि चाहे तो वह उदासीन रह सकता है क्योंकि उसकी स्थिति ही ऐसी है। षाड्गुण्य के लिए इन बारह* राजाओं का विचार करना पड़ता है। 'विजिगीषु, मित्र और मित्रमित्र मिलकर (एक) प्रकृति-मण्डल (राज्यमण्डल) होता है।' इस मण्डल की तुलना आजकल के 'entente' से कर सकते हैं। ऊपर बतलाये बारह राजाओं के चार 'प्रकृतिमण्डल' हो सकते हैं। उन्हीं के कारण षाड्गुण्य अथवा षड्गुणनीति की उद्भावना होती है।

'सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव† षाड्गुण्य के भेद हैं।' परन्तु कौटिल्य ने वातव्याधि का मत

---

* विजिगीषु, अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र, अरिमित्रमित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्दासार, मध्यम और उदासीन।

† सन्धि और विग्रह के अर्थ सब पर प्रकट हैं। यान यानी लड़ने की तैयारी करना; संश्रय यानी मेल; आसन यानी उदासीनता या तटस्थता; और द्वैधीभाव यानी एक से मेल और दूसरे से लड़ाई। इन छः से राज्य के कार्य और मन की स्थिति का मतलब है और अँग्रज़ी में इन्हें पालिसी (Policy) कह सकते हैं। साम, दाम, दण्ड और भेद को भी कभी कभी नीति कहते हैं, परन्तु ये उपाय हैं; मन की निश्चित स्थिति का इनसे पता नहीं लगता। इन्हें (tactics) कह सकते हैं।

दिया है कि नीति षड्गुण नहीं, वास्तव में द्विगुण ही होती है—सन्धि और विग्रह। इन्हीं से षड्गुणनीति उत्पन्न होती है। आजकल भी बहुधा ये दोही स्थितियाँ मानी जाती हैं। तथापि कौटिल्य का कहना है कि क्योंकि ये छः स्थितियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं, इसलिए नीति को षड्गुण ही कहना चाहिए। अब यह बतलाना आवश्यक है कि किसे किस नीति का अवलम्बन करना चाहिए। 'दूसरों से जो हीन हों वे सन्धि करें, दूसरों से जो बढ़े चढ़े हों वे युद्ध करें; जो यह सोचे कि न तो कोई शत्रु मेरा कुछ कर सकता है और न मैं ही किसी का कुछ कर सकता हूँ, वह आसननीति का अवलम्बन करे; जिसके पास उचित सामग्री हो वह यान-नीति का आश्रय करे; जो स्वयं अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो वह 'संश्रय' का आधार देखे; यदि कुछ ऐसा कार्य सिद्ध करना हो कि जिससें सहायता की आवश्यकता है तो द्वैधीभाव का अवलम्बन किया जाय।' परन्तु वास्तव में 'बुद्धिमान् इनमें से उसी नीति का अवलम्बन करे कि जिससे दुर्ग, सिँचाई के आशय और वणिक्पथ बनाने में, ऊजड़ भूमि को आबाद करने में, खनिज पदार्थ और हस्तिवनों को अपनाने में सहायता मिले और जिससे शत्रु की इन्हीं बातों की घटती हो।' परिस्थिति की दृष्टि से किस नीति का अवलम्बन किया जाय, यह आगे विस्तारपूर्वक बतलाया है। 'यदि किसी को यह जान पड़े कि मेरा अभ्युदय मेरे शत्रु की

अपेक्षा शीघ्र हो रहा है तो वह उसकी उपेक्षा करे, परन्तु यदि दोनों की वृद्धि एक बराबर और एक समय हो तो सन्धि करना उचित है। कोई भी राजा ऐसी नीति न चलावे कि जिस कारण उसके कामों में हानि पहुँचे और शत्रु को इस प्रकार की हानि न हो, क्योंकि यह क्षय (गिरती दशा) (का चिह्न) है। परन्तु यदि किसी को यह जान पड़े कि कालान्तर में शत्रु की तुलना में हानि की अपेक्षा लाभ ही अधिक होने की संभावना है तो वह अपने इस (अल्पकालिक) क्षय का विशेष ख़याल न करे। यदि दो विरोधी राजा गिरती दशा में हों और बराबर समय के अन्दर बराबर लाभ होने की आशा रखें तो उन्हें संधि करना ही उचित है।' ऊपर बतला ही चुके हैं कि 'जब अवनति और उन्नति दोनों नहीं होतीं उस स्थिति को 'स्थान' (समस्थिति) कहते हैं।' 'यदि किसी को यह जान पड़े कि मेरी यह समस्थिति थोड़े काल की है और अन्त में शत्रु की अपेक्षा लाभ ही अधिक होगा, तो वह अपनी तात्कालिक समस्थिति का ख़याल न करे।' परन्तु दो विरोधी राजा समस्थिति में रहें और उन्हें हानि-लाभ बराबर बराबर जान पड़ें तो संधि कर लेना उचित है। क्योंकि विरोधी भाव से लाभ तो है ही नहीं। परन्तु यदि कोई राजा यह सोचे कि संधि से मैं बहुत से लाभकारी काम कर सकता हूँ और साथ ही शत्रु के कामों को नष्ट कर सकता हूँ; या, अपने कामों

के लाभों के सिवा संधि की शर्तों के कारण शत्रु के कामों से भी लाभ उठा सकता हूँ; या, गुप्तचर और इतर साधनों से अपने शत्रु के कामों को हानि पहुँचा सकता हूँ; या, सुखकारक निवास, अनुग्रह, (कर की) मुआफ़ी, थोड़े काम और अधिक दाम, आदि के प्रलोभन से शत्रु के राज्य के काम चलानेवाले लोगों का प्रवाह मैं अपनी ओर खींच ले सकता हूँ; या, मेरा शत्रु बली राजा से संहित होने के (संधि करने के) कारण अपने कामों में बहुत हानि उठावेगा; या, अपने शत्रु के (किसी) विरोधी राजा का उसके प्रति विरोध बनाये रखकर मैं उसके डर से अपना आश्रय लेने को उसे बाध्य कर सकता हूँ; या, मुझसे संहित होने के कारण मेरा शत्रु मेरे किसी दूसरे विरोधी राजा को कष्ट पहुँच सकता है; या, किसी दूसरे राजा से संत्रस्त होकर मेरे शत्रु की प्रजा मेरे राज्य में आजायेगी और इस तरह मुझे अपने कामों में बहुत लाभ होगा; या, अनेक प्रकार की हानि पहुँचने से संकट पड़ जाने के कारण मेरा शत्रु कभी भी इतना बली न होगा कि मुझ पर आक्रमण करे; या, किसी भी दो (मित्र) राजाओं से संहित होने से मैं बहुतेरे लाभ उठा सकता हूँ; या, मेरे शत्रु के बनाये (राज्य) मण्डल को मैं छिन्नभिन्न कर सकता हूँ; और दूसरा (मण्डल) बना सकता हूँ; या, दण्ड या अनुग्रह से शत्रु को पकड़ सकता हूँ और जब वह मेरे (राज्य) मण्डल में आना चाहे तब उसके विद्विषों का

उससे विद्वेष कराके उसका घात करवा सकता हूँ; तब (यानी इन इन अवस्थाओं में) संधि करके वह अपनी समृद्धि करे।

परन्तु 'यदि कोई राजा यह विचार करे कि मेरे राज्य में योद्धाओं तथा (युद्धशील लोगों की) श्रेणियों* की संख्या यथेष्ट है, और मेरे राज्य में पर्वत, वन, नदी, दुर्ग जैसे रक्षा-साधन अनेक हैं और इस कारण मेरा शत्रु मेरे राज्य पर सरलता से आक्रमण न कर सकेगा; या, मैं अपने राज्य की सीमा के किसी अभेद्य दुर्ग में रहकर अपने शत्रु को संत्रस्त कर सकता हूँ; या, आन्तरिक व्यसन (कठिनाइयों) और पीड़ा के कारण हतोत्साह होने से मेरे शत्रु का विनाश-काल अब आ पहुँचा है; या, यदि मेरे शत्रु पर (उसका) कोई शत्रु आक्रमण करे तो मैं (उसकी) प्रजा को अपने राज्य में आने के लिए फुसला सकता हूँ; तो (यानी इन इन अवस्थाओं में) वह राजा अपने शत्रु का खुल्लमखुल्ला विरोध करे और अपनी तैयारी करता जाय।

यदि किसी राजा को यह जान पड़े कि मैं इतना बलिष्ठ नहीं कि मैं शत्रु को हानि पहुँचा सकूँगा या मेरे शत्रु ही में इतना ज़ोर नहीं कि वह मुझे हानि पहुँचा सके; या, जिस प्रकार

---

* संघ या समाज। ऐसा जान पड़ता है कि उस काल में कुछ लोग ऐसे रहते थे कि जिनका पेशा लड़ने का ही था और वे श्रेणी यानी संघ या समाज बनाकर रहते थे।।

वराह से कुत्ता लड़ता है उस प्रकार वह लड़ने को आये तो मैं स्वतः बिना कोई हानि सहे उसे कष्ट पहुँचा सकता हूँ; तो उसे आसन-नीति धारण करनी चाहिए। इसी प्रकार के नियम यान, संश्रय और द्वैधीभाव के लिए भी कौटिल्य ने बतलाये हैं।

इस षाड्गुण्य का असली उद्देश शान्ति-स्थापना है ताकि लोगों के उद्योग निर्विघ्न चलें और उनकी तथा राज्य की समृद्धि हो। इसलिए शान्ति की स्थापना ही वाञ्छित है—किसी भी रीति से शान्ति स्थापित होनी चाहिए। यदि सन्धि और विग्रह दोनों के लाभ बराबर हों तो संधि ही ग्रहण करना अधिक उचित है क्योंकि विग्रह से अनेक नुकसान हैं—धन और शक्ति का नाश होता है, अनेक लोग नष्ट हो जाते हैं, कई लोगों का ठौरठिकाना नहीं रह जाता, और अनेक पाप-कर्म होते हैं सो अलग ही। यही बात 'आसन' और 'विग्रह' के सम्बन्ध में ठीक समझनी चाहिए। परन्तु द्वैधी-भाव और संश्रय में से किसी एक नीति का अवलम्बन करना पड़े तो द्वैधी-भाव विशेष उचित है। द्वैधी-भाव से निज को उन्नति का अवसर मिलता है, तो संश्रय से दूसरे को; तथापि यदि पड़ोसी राजा बली हो तो संश्रय का आधार लिये सिवा उपाय नहीं है। परन्तु वह राजा बली न हो तो किसी दूसरे के आक्रमण की स्थिति को छोड़कर 'संश्रय' का अन्य आधार न ढूँढ़ना चाहिए। शक्तिहीन होने पर यही उचित है

कि वह 'दण्डोपनत' जैसा बर्ते। परन्तु उसके राज्य में व्याधि या अन्तःकोप (आन्तरिक अशान्ति) हो, या उसके शत्रुओं की वृद्धि हो या उसके मित्रों पर आपत्ति गुज़रे तो संभवनीय व्याधि या धर्मकार्य का बहाना करके वह उसको (यानी अपने बली शत्रु के 'संश्रय' को) छोड़ दे, अथवा अपने राज्य में चुपचाप बैठा रहे। नहीं तो 'आसन' का अवलम्बन करके 'उसके छिद्रों पर प्रहार करे।' जो राजा दो राजाओं के बीच हो, उसे चाहिए कि इनमें से बली अथवा विश्वसनीय राजा का आश्रय ले, या, उन दोनों से बराबरी की संधि कर ले। फिर भेद-नीति के द्वारा उन दोनों को लड़ा दे। जब वे इस प्रकार वियुक्त हो जायँ तब उनको एक एक करके गुप्त उपायों-द्वारा नष्ट करे। या, उस समय कोई अन्य शत्रु ही खड़ा हो गया हो तो इन दो पड़ोसी राजाओं में से बली का आश्रय कर ले। या, इसी प्रकार समयानुसार अन्य किसी नीति का अवलम्बन करे, परन्तु अपना नाश न होने दे। ज़रूरत पड़े तो बली राजा की सी ऐंट भी दिखलावे।

दो बराबर राजाओं की बात भिन्न है। यदि एक दूसरे को कष्ट दे तो दूसरा भी पहले को कष्ट दे। इसके सिवा उपाय नहीं है। 'तेज (ज़ोर) ही से संधि की संभावना होती है। गरम किये बिना लोहे से लोहा जुड़ता नहीं।' गत यूरोपीय महायुद्ध के समय कई लोग यही तान अलापा करते थे कि यह युद्ध शान्ति के लिए ही आवश्यक है।

परन्तु अभी तो नहीं कह सकते कि यह बात सत्य निकली। उलटा, इस समय अशान्ति के बीज ही अधिक बोये जा रहे हैं और यह संभव है कि उनकी जड़ें इतनी भीतर घुस जायँ कि वे स्थायी हो जायँ। इसलिए सदैव यह नहीं कह सकते कि युद्ध से शान्ति की स्थापना होती ही है। परन्तु इस नियम को अगले नियम के साथ पढ़ें तो कुछ विशेष बुद्धिमानी का उपदेश मिल सकता है। कौटिल्य कहता है "जब कोई हीन राजा पूर्ण नम्रता दिखलावे तो उससे संधि कर लेना चाहिए। क्योंकि दुःख देने से अरण्याग्नि के समान उसके मन में क्रोध उत्पन्न होगा और वह ख़ूब पराक्रम करेगा। अलावे इसके, उसका (राज्य) मंडल भी उसके पक्ष में रहेगा।" कहा ही है, "दुर्बल को न सताइये मोटी जाकी आह।" सार यह है कि बुद्धिमानी से काम लेना चाहिए। यदि कोई राजा घमण्ड में चूर हो और व्यर्थ कष्ट देवे तो युद्ध की चासनी थोड़ी सी चखाकर उसे नम्र करना चाहिए। परन्तु नम्रहोने पर उसे कष्ट ही कष्ट देते रहना अनुचित है।

कभी कभी अपने राज्य की लोक-संख्या बढ़ाने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसका सरल उपाय यह है कि दूसरे राज्य के लोगों को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न किया जाय। यह संभव है कि अच्छे लोग राज्य छोड़कर आना मंजूर न करें। शायद लोभी, दरिद्री, या सताये हुए लोग आना स्वीकार करें। परन्तु यदि वे भी अस्वीकार करें तो

हीनबल होते भी उसे चाहिए कि वह युद्ध छोड़ दे। परन्तु यदि इतने पर भी लोग न आवें तो संधि करना ही उचित है। यदि उद्देश सिद्ध होने की आशा नहीं तो व्यर्थ लड़ाई के उत्पात और कष्ट क्यों? इतना ही नहीं बल्कि लड़ाई छिड़ जाने पर भी यदि यह देख पड़े कि शत्रु की अपेक्षा स्वत: के कष्ट अधिक हैं और कदाचित् शत्रु अपनी कठिनाइयों को पारकर विजय पा ले तो संधि कर लेना ही उचित है। इसी प्रकार जब यह देख पड़े कि युद्ध और शान्ति से स्वत: को लाभ नहीं और शत्रु को हानि नहीं तो युद्ध न छेड़ना और आसनवृत्ति धारण करना ही अच्छा है। परन्तु जब शत्रु की आपत्ति निवारण होने योग्य न हो तो फिर बेखटके युद्ध छेड़ दिया जाय। तथापि आपत्ति के समय अधिक बल होने पर भी दूसरे का संश्रय कर लेना अनुचित नहीं। द्वैधीभाव का उपयोग तब ही किया जाय जब इस बात का निश्चय हो कि एक से युद्ध और दूसरे से संधि करने से लाभ अवश्यमेव होगा।

समयानुसार संधि की शर्तें कई प्रकार की हो सकती हैं। और उनके अनुसार संधि के भेद हो सकते हैं। जब इन शर्तों पर संधि हो कि निश्चित आयुधीय संख्या, या सेना का उत्तम भाग लेकर स्वयं उपस्थित होना चाहिए, तब 'आत्मामिष' संधि होती है। परन्तु यदि युवराज के साथ सेनापति को (सेना लेकर) उपस्थित होना पड़े तो 'पुरुषान्तर

संधि' होती है और यह आत्मरक्षाप्रद हो सकती है क्योंकि राजा को स्वयं उपस्थित नहीं होना पड़ता। ज़रूरत पड़े पर राजा अथवा अन्य किसी को सेना लेकर किसी बताये स्थान पर जाना पड़े तो वह 'अदृष्टपुरुष' संधि कहलाती है। इससे राजा और सेना के मुखियाओं की रक्षा होती है। सेना की सहायता देने की शर्तों की ये तीन प्रकार की संधियाँ होती हैं। पहले प्रकार में किसी उच्चकुलीन स्त्री को 'बंधन' (hostage रख देना चाहिए। अन्तिम प्रकार में गूढ़ उपायों-द्वारा अपना हित साधना चाहिए।

अब कोशदान की शर्त की संधि का विचार करना चाहिए। 'जब कोशदान से शेष प्रकृतियां (राजा-अमात्य-जन-पद-दुर्ग-सेना-मित्र) का विमोक्षण हो (यानी फिर कोई बंधन न रहे) तो परिक्रय-संधि (peace by ransom) होती है। इसी प्रकार, एक मनुष्य अपने कंधे पर ले जा सके* उतने द्रव्य के देने पर जो संधि होती है, वह उपग्रह कहलाती है और उसके कई रूप हो सकते हैं। दूरी के कारण अथवा समय पर न पटाने से 'उपग्रह' 'अत्यय' (बकाया) हो सकता है। तथापि स्त्री को 'बन्धन' रूप (as a hostage) रखने की अपेक्षा इस प्रकार की संधि अच्छी है। जिस संधि से† दोनों पक्षों के भाव एक हो जाते हैं (यानी फिर बुरे भाव नहीं रहते) उसे सुवर्ण-

---

* इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है।

† इसमें भी द्रव्य देना होता है, परन्तु कदाचित् शक्त्यनुसार।

संधि कहते हैं। इसके विपरीत कपाल-संधि होती है कि जिसमें अत्यादान* करना पड़ता है। पहले दो प्रकारों के लिए कुप्य (raw-malerial), हाथी, घोड़े और योद्धा भेजना चाहिए। तीसरे प्रकार में धन। परन्तु चौथे प्रकार में देश की उत्पत्ति के साधनों की अवस्था बिलकुल ख़राब है, कहकर पटाने के लिए टालमटोल* करना चाहिए।

जब राज्य का कुछ अंश देने से संधि होती है तब वह आदिष्ट कहलाती है। जिसे (दिये हिस्से के) छुपे चोरों का नाश करना है, उसे यह संधि इष्ट है। जब राज्य का राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जावे और राजधानी को छोड़कर बाक़ी सब हिस्सा देकर संधि करना पड़े तो वह उच्छिन्न-संधि कहाती है। शत्रु को आपत्ति में डालनेवाले के लिए यह इष्ट है। उद्ध्वस्त प्रदेश के लोग विजयी राजा से चिढ़े रहते हैं और इस कारण उसे इस प्रदेश के पाने पर लाभ के पलटे कष्ट होने की संभावना अधिक रहती है। विजयी राजा से कष्ट पाने के कारण तथा परम्परा के कारण उनका प्रेम पहले राजा पर बना रहता है और इस कारण यह संभव है कि 'अन्त:कोप' से तंग आकर विजयी राजा वह प्रदेश वापस कर दे। इसी

---

* गत यूरोपीय युद्ध के बाद जर्मनी के साथ की हुई संधि कुछ अंश में इस वर्ग की हो सकती है। जर्मनी ने ठीक यही बहाना किया, परन्तु फ़्रांस ने उसका एक न सुना और ऐसा तीक्ष्ण प्रत्युपाय निकाला कि जिसे कौटिल्य ने सोचा भी न होगा।

दृष्टि से यह संधि इष्ट हो सकती है। अन्यथा, सर्वनाश में और इस संधि में कोई अन्तर नहीं है। यदि भूमि का (समस्त) 'फल' (यानी उपज) देनी पड़े और फिर किसी प्रकार का बन्धन न रहे तो अवक्रय-संधि होती है। परन्तु यदि राज्य की उपज से अधिक उपज देनी पड़ जाय तो परि-भूषण-संधि होती है। इनमें पहले प्रकार की संधि बुरी नहीं। अन्तिम दो प्रकार की संधियाँ तब ही करनी चाहिए कि जब बली शत्रु के सामने और कोई उपाय न चले।

इस प्रकार आत्मदान, दण्ड (सेना) दान, कोशदान और भूमिदान के भेद हैं। परन्तु अन्य स्थानों में कौटिल्य ने इनके सिवा और भी कई भेद बताये हैं। संधि 'परिपणित' और 'अपरिपणित' होती है। जब देश और काल का निश्चय करके कोई काम करने के वचन का आदान-प्रदान किया जाता है तब परिपणित संधि होती है। परन्तु केवल परस्पर बीच शान्तता रहे इसलिए बिना किसी शर्त के जो संधि की जाती है वह अपरिपणित होती है। पहले प्रकार की संधि की आवश्यकता तब होती है जब दोनों पक्ष को कुछ निश्चित कार्य सिद्ध करना है। साधारण लोगों के सामने ऐसे उदा-हरण कम रहते हैं। नैपोलियन और रूस के ज़ार अलेक्ज़े-ण्डर के बीच टिलसिट में जो संधि हुई थी, वह इसी वर्ग की थी। दोनों ने अपने अपने विजय के लिए प्रायः समस्त यूरोप और एशिया को बाँट लिया था। नैपोलियन ने यूरोप चुना

तो अलेक्ज़ेण्डर ने एशिया। महत्त्वाकांक्षी लोग ऐसी संधियाँ किया करते हैं। जब शत्रु के छिद्र पर प्रहार करना हो तो ऐसी (परस्पर के बीच शान्ति की स्थापना) संधि करके उसके छिद्रों की तूक में रहना चाहिए और जब कभी छिद्र देख पड़े तब उस पर टूट पड़ना चाहिए।

संधियों के अकृतचिकीर्षा, कृतश्लेषण, कृतविदूषण और अवशीर्णक्रिया नामक भेद और होते हैं। जब सामदामादि से नई संधि होती है और सम, हीन और अधिकबल राज्यों के दर्जे के अनुसार उनका दर्जा (संधि के शर्तों से) माना जाता है तब (आत्मरक्षा के सिवा बिना किसी अन्य उद्देश की) इस संधि को अकृतचिकीर्षा कहते हैं। (प्रत्येक के राज्य में) हितू लोगों को रखकर उनके द्वारा निश्चित किये शर्तों का उचित परिपालन करके संधि के बन्धन ढीले न होने दें और उनका रक्षण किया जाय तो कृतश्लेषण संधि होती है। जब किसी राजा की धोखेबाज़ी गुप्त उपायों और राजद्रोही लोगों द्वारा सिद्ध करके संधि तोड़ी जाती है तो कृतविदूषण होता है। भृत्य, मित्र, अथवा कष्ट के कारण किसी भगे हुए पुरुष से पुनश्च मेल कर लिया जाता है तो अवशीर्णक्रिया होती है। इनमें से तृतीय को संधि का भेद मानना उचित नहीं और चौथे में यह स्पष्ट नहीं कि मेल किसके भृत्यमित्रादि से करना है। इसलिए इस वर्ग के दो ही भेद बच जाते हैं।

कौटिल्य ने इसी षाड्गुण्य के सम्बन्ध में कई अन्य बातें विस्तारपूर्वक दी हैं। किस अवस्था में किससे किस नीति का अवलम्बन किया जाय, मित्रता किससे किन शर्तों पर की जाय, भिन्न भिन्न शर्तों के स्वरूप क्या रहें और वे किस प्रकार लाभकारी हो सकते हैं इत्यादि अनेक बातें कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में बतलाई हैं। उनमें से बहुतेरी बातें तो केवल साधन, चालें इत्यादि के अन्तर्गत आवेंगी। इन साधनों और चालों का उपयोग देश, काल और व्यक्ति पर अवलम्बित रहता है। इसलिए उन्हें यहाँ बतलाने से कोई विशेष लाभ न होगा। कौटिल्य ने संधि के जितने भेद और उपभेद बताये हैं, वे पर्याप्त नहीं हैं। आजकल संधि की शर्तों का स्वरूप बहुत कुछ परिवर्तित है। हेतु और उद्दिष्ट वस्तु के अनुसार संधि के इतने प्रकार हो सकते हैं कि उन सबको बतलाना कठिन है। यत्र तत्र कौटिल्य ने युद्ध से होनेवाली हानि पर ध्यान दिया अवश्य है, पर राजनीति का अवलम्बन करते समय धर्माधर्म का विचार उसने क़रीब क़रीब ताक़ में रख दिया है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए किस भयंकर छल-कपट का उसने उपदेश किया है, इसका दिग्दर्शन आगामी अध्याय में होगा।

———

अध्याय ११

कौटिल्य की कुटिल नीति

कौटिल्य अपनी कुटिल नीति के कारण प्रसिद्ध है। अन्तर इतना ही है कि लोग "कौटिल्य" के नाम के स्थान में "चाणक्य" का नाम जानते हैं और इसके उल्लेख कई ग्रन्थों में मिलते हैं। बाण की ही उक्ति देखिए—

किं वा त्वेषां साम्प्रतं येषामतिनृशंसप्रायोपदेशनिर्घृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणं, अभिचारक्रियाक्रूरैकप्रकृतयः पुरोधसो गुरवः, पराभिसन्धानपरा मन्त्रिणः उपदेष्टारः, नरपति-सहस्रोज्झितायां लक्ष्म्यामासक्तिः मरणात्मकेषु शास्त्रेष्वभियोगः, सहजप्रेमार्द्रहृदयानुरक्ता भ्रातर उच्छेद्याः।

"जो लोग अति दुष्ट उपदेशों से परिपूर्ण और निर्घृण कौटिल्य-शास्त्र को प्रमाण मानते हैं, छल-कपट के व्यवहार से क्रूर-स्वभाव के बने पुरोहित जिनके गुरु हैं, दूसरों के छिद्र ढूँढ़ने में प्रवीण मन्त्री जिनके उपदेशदाता हैं, जिस लक्ष्मी को हज़ारों राजाओं ने दूर फेंक दिया उसमें ही जिनकी आसक्ति है, मृत्युकारक शास्त्रों में जिन्हें अभिरुचि है, और स्वाभाविक प्रेम से परिपूर्ण आर्द्रहृदय से अनुराग करनेवाले भाइयों को मार डालना जो अपना कर्तव्य समझते हैं, उन्हें अब क्या (धर्माधर्म) रहा।"

जिन्होंने "मुद्रा-राक्षस" नाटक में चाणक्य के विषय में पढ़ा है उन्हें कौटिल्य की कुटिल नीति का कुछ स्वरूप अवश्य ज्ञात होगया होगा। इस नाटक की तथा 'अर्थशास्त्र' में बतलाई गई नीति इतनी मिलती-जुलती है कि अन्य सब उल्लेख नष्ट भी हो जायँ तो भी बहुत साधारण मनुष्य भी दोनों को पढ़कर यही कहेगा कि चाणक्य और कौटिल्य में केवल नाम-भेद है, पुरुष एक ही है। बड़ी भारी सेना से जो काम कोई राजा नहीं कर सका वह काम चाणक्य ने अपनी कुटिल नीति से कर डाला। कामन्दक ने क्या ही वास्तविक बात कही है—

यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वानन्दपर्वतः॥
एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्॥

अर्थात्—"जिसका तेज वज्र-समान था और जिसके अभिचार-वज्र से नन्दरूपी बड़ा भारी पर्वत जड़मूल से उखड़कर गिर पड़ा, इन्द्र जैसे अकेले वज्र से काम सिद्ध करे उस प्रकार जिसने केवल मन्त्रशक्ति के ज़ोर से नरों में चन्द्र जैसे चन्द्रगुप्त को पृथ्वी दे दी"। यहाँ नाम के लिए तो चाणक्य की समता इन्द्र से की गई है, परन्तु वास्तव में उसे बढ़ाकर ही बतलाया है। इन्द्र तो कम से कम एक शस्त्र का भी उपयोग करता है, परन्तु चाणक्य एक का भी नहीं—केवल बातों का। वास्तव में यह स्तुति ठीक भी है। षाड्गुण्य के लिए यानी

परराज्य के संबन्ध के लिए ही नहीं बल्कि निज राज्य की शान्वता के लिए भी चाणक्य ने उसी कुटिल नीति का उपदेश किया है।

कौटिल्य की कुटिल नीति के आधार-स्तम्भ गुप्तचर हैं। उनके द्वारा राज्य की तमाम बातें जाननी चाहिए। राज्य में राजा के नीचे प्रभावशाली पुरुष मन्त्री होते हैं। वे यदि राजद्रोही हो जायँ तो बड़ा अनर्थ हो सकता है। इसलिए उन पर ख़ूब दृष्टि रखनी चाहिए। "यदि उनमें कोई राजद्रोही हो जाय तो कोई गुप्तचर उसके भाई से जाकर कहे कि राजा ने तुम्हें अमात्य बनाने के लिए बुलाया है। भट के बाद राजा उसे ऊपरी तौर से उसके भाई का पद और धन-द्रव्य दे दे और भाई पर आक्रमण करने को फुसलावे। जब वह अपने भाई को मार डाले तब भ्रातृघातक कहकर वह भी उसी स्थान पर मार डाला जाय। अथवा उस राजद्रोही मन्त्री का भाई आनुवंशिक सम्पत्ति पर हक़ दिखलाने के लिए गुप्तचरों-द्वारा फुसलाया जाय। दावेदार पुरुष भाई के घर या अन्यत्र सोया रहे तब वह मार डाला जाय और फिर वह गुप्तचर यह प्रकाशित कर दे कि दावेदार को उसके भाई ने मार डाला है। और तब मृत भाई का पक्ष लेकर राजा उसके भाई को दण्ड दे। अथवा उस राजद्रोही मन्त्री का कोई पुत्र हो तो उसके मन में यह बात भर दी जाय कि तुम तो वास्तव में राजा के पुत्र हो, परन्तु शत्रुओं के डर से यहाँ रख दिये

गये हो। राजा इस पुत्र का मान-सम्मान करें और यह कहे कि इस मन्त्री के डर के कारण तुम्हारा यौवराजाभिषेक मैं नहीं करता, यद्यपि तुम्हारी अवस्था इस योग्य हो गई है। फिर गुप्तचर उसे अपने पिता को मार डालने के लिए फुसलावें। मार डालने के बाद वह पुत्र भी उसी स्थान पर पितृघातक कहकर मार डाला जाय। नहीं तो कोई भिक्षुणी वशीकरण के उपायों-द्वारा राजद्रोही मन्त्री की पत्नी को अपने वश में कर ले। फिर उसके द्वारा मन्त्री को विष दिला दे। यदि ये उपाय न चल सकें तो उस मन्त्री के साथ बेकार सेना तथा तीक्ष्ण जासूस देकर उसे आगे लिखे कामों पर भेज दे—विप्लवकारी जंगली जाति या ऐसेही किसी गाँव को दबाने के काम पर अथवा राष्ट्रपाल या अन्तपाल की स्थापना के लिए या किसी विद्रोही नगर का नियन्त्रण करने या पास के किसी राज्य से कर लानेवाले लोगों की रक्षा करने के लिए। क्योंकि इन कामों के करने में झगड़े ज़रूर होंगे। उस समय तीक्ष्ण गुप्तचर अथवा लुटेरों के रूप में रहनेवाले गुप्तचर मन्त्री का वध कर डालें और कह दें कि वह लड़ाई में मारा गया।"

अथवा "यात्रा या विहार के समय राजा विद्रोही मन्त्रियों को भेंट के लिए बुलावे। तीक्ष्ण गुप्तचर सशस्त्र होकर मन्त्रियों के साथ चलें और अन्दर जाने की आज्ञा माँगें। द्वारपाल बीच में उनकी तलाशी ले और उन्हें शस्त्र-

सहित पकड़ लें। तब वे गुप्तचर कह दें कि हमें यह विद्रोही मन्त्री ही अमुक काम के लिए लाया है। यह बात फिर लोगों पर प्रकट कर दी जाय और वह मन्त्री मार डाला जाय। और उन तीक्ष्ण गुप्तचरों के स्थान में किसी दूसरे को फाँसी दे दी जाय"।

"अथवा वैद्य का भेष लेकर कोई गुप्तचर विद्रोही मन्त्री के पास जाकर कहे कि आपको अमुक अमुक असाध्य रोग हो गया है और फिर औषध अथवा भोजनद्वारा विष खिलाकर उसे मार डाले।"

इसी तरह कौटिल्य ने और भी उपाय बतलाये हैं, जिनके द्वारा राजा विद्रोही मन्त्रियों से छुटकारा पा सकता है।

यदि जनता में कोई विद्रोही हो जाय और राजा और राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र रचे तो उसके लिए कौटिल्य ने ये उपाय बतलाये हैं—

"यदि किसी विद्रोही मनुष्य से छुटकारा पाना है तो किसी दूसरे विद्रोही पुरुष को बेकार सिपाहियों तथा तीक्ष्ण गुप्तचरों की सेना दे दी जाय और उससे कहा जाय कि तुम अमुक क़िले अथवा देश में जाकर सेना अथवा रुपये एकत्र करो, अमुक राजपुरुष का द्रव्य छीन लो अथवा अमुक राजपुरुष की कन्या हरण कर ले आओ, क़िला बनाओ, बग़ीचा लगाओ, रास्ते बनाओ, नया गाँव बसाओ अथवा अमुक खानि खोद डालो, वन-रक्षकों से अथवा हस्ति-रक्षकों

से प्रेम करना चाहता है। फिर जब रात को उनमें झगड़ा हो तब पहले से ही ठीक किये हुए गुप्तचर उन्हें मार डालें।''

इसी प्रकार के कुछ और भी उपाय कौटिल्य ने बतलायें हैं।

ये तो विद्रोही मन्त्री या जन-साधारण के लिए उपाय हुए। पर यदि राष्ट्र-मुख (यानी किसी भाग विशेष का नायक) या अन्तपाल (यानी सीमा का रक्षक) या आटविक (जङ्गली लोगों का मुखिया) बिगड़ पड़े तो इनके लिए किस प्रकार के उपायों का अवलम्बन किया जाय? सबसे सरल बात यह है कि वे आपस में ही लड़ा दिये जायँ। यदि इनमें से किसी ने पक्के दुर्ग बना लिये हों तो किसी सीमान्त राजा, आटविक या कुलीन या अवरुद्ध (यानी कैद में डाले हुए) पुरुष के द्वारा वह पकड़ा जाय। अथवा वह किसी मित्र के द्वारा पकड़ा जाय, अथवा गुप्तचर उससे (उसके विरुद्ध) अनेक बातें कहकर शत्रु से न मिलने दे।'' ऐसे उपद्रवों के लिए भेद-नीति का अवलम्बन करने के लिए कौटिल्य ने कहा है।

विद्रोहियों से अथवा शत्रु से जो लोग जा मिलें उनकी क्या व्यवस्था की जाय? वे किस प्रकार सीधे रास्ते पर लाये जायँ?

यदि नागरिक अथवा देहाती लोग विद्रोहियों से जा मिलें तो दण्ड का अवलम्बन करना ठीक नहीं, अन्य उपायों का भले ही उपयोग किया जाय। वज़नदार लोगों को दण्ड

देना बड़ा कठिन कार्य है। दण्ड दे भी दिया तो उसका इच्छित परिणाम होगा, यह नहीं कह सकते। कदाचित् विपरीत परिणाम उत्पन्न हो जाय। परन्तु विद्रोहियों के मुखियों को उचित दण्ड देना ठीक हो सकता है।

शत्रु से अपने लोगों को अलग करने के लिए सामादि उपायों का अवलम्बन करना चाहिए, ताकि शत्रु के प्रधान लोगों अथवा शत्रु के कार्यकर्त्ताओं का कुछ बस न चल सके।

यदि कोई मित्र (शत्रु से जा मिले और) शीघ्र सन्धि न करता हो तो भेद-नीति का अवलम्बन किया जाय। जासूसों के द्वारा शत्रु से वह अलग किया जाय। शत्रु से मिले हुए मित्रों में से अन्तस्थायी (यानी अन्त में रहनेवाले) को अपनी ओर कर लेने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि अन्तस्थायी को मिला लेने पर मध्यस्थायी (यानी बीच में रहनेवाले) शीघ्र ही अलग अलग हो जाते हैं। अथवा मध्यस्थायी को ही मिलाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि उसके अलग होने पर बाक़ी लोग मिल कर नहीं रह सकते। सारांश, मित्र-सङ्घ तोड़ने के लिए सब प्रयत्नों का अवलम्बन करना चाहिए।

यदि दो राजाओं को परस्पर का यह डर हो कि दूसरा मुझसे शत्रुता करना चाहता है अथवा मेरी ज़मीन लेना चाहता है तो उनमें भेद-नीति से कलह करा देना चाहिए। उनमें से जो डरपोंक हो उसे यह कह दिया जाय कि वह

राजा तुमसे सन्धि करके तुम्हारे विरुद्ध कार्रवाई करना चाहता है; देखो, उस राजा के मित्र को खुल्लमखुल्ला (उससे) सन्धि करने की परवानगी मिल गई है।

अथवा (शत्रु-दल में) जो लोग सबसे अधिक विद्रोही हों उन्हें पहले धन और आदर-सत्कार से ख़ुश कर ले और फिर उन्हें शत्रु के पास सदैव शस्त्र, विष और अग्निसहित रहने को कहे। फिर शत्रु का कोई अमात्य मार डाला जाय और उससे उसके पत्नी-पुत्र-द्वारा यह कहला दिया जाय कि अमुक अमुक ने अमात्य को मार डाला है।......तदनन्तर राजा का जिस पर विश्वास हो उसके द्वारा उस राजा को बतला दिया जाय कि अमुक अमुक अमात्य से होशियार रहिए। फिर वह भेदिया अमात्य को फुसला कर राजा को मरवा डाले।

या जिन राजाओं में विशेष उत्साह-शक्ति हो उन्हें यह झाँसा दिया जाय कि अमुक राज्य पर धावा बोल दो, इससे आपसे हमारी सन्धि में कोई विघ्न न पड़ेगा। फिर जासूस जाकर उस राज्य के राजा से इन राजाओं की हलचल का हाल बता दें और उनमें से किसी के धनधान्य और लोगों का सत्यानाश करवा दे। फिर दूसरे जासूस मित्र बनकर जायँ और उस राजा का घात करने के लिए उन्हें सलाह दें।"

कौटिल्य ने यह भी बतलाया है कि जासूसों के द्वारा अपने शत्रु को मरवा डालना चाहिए। नाना तरह के भेद के उपाय भी कौटिल्य ने बताये हैं। उसने यहाँ तक कह डाला है

कि यदि देश में अनेक शत्रु उत्पन्न हो जायँ तो विषैली चीज़ें पिलाकर उन्हें इस संसार से दूर कर देना चाहिए। या यदि शत्रु चालाक हो तो उसे (तीक्ष्ण) जासूसों-द्वारा मरवा डालना चाहिए या विषयुक्त मांस खिला देना चाहिए।

"कोई जासूस ज्योतिषी बनकर शत्रु के प्रधान मन्त्री के पास जाय और धीरे धीरे उसके मन में यह भर दे कि तुममें राजा के सब लक्षण हैं। इसी प्रकार भिक्षुणी उसकी पत्नी के मन में यह भर दे कि तुममें रानी के सब लक्षण हैं और तुमसे जो पुत्र होगा वह राजपुत्र ही होगा। (इस प्रकार राजा से उसे लड़ा दे।)"

"नहीं तो कुछ जासूस जाकर शून्यपाल के पास नौकरी कर लें और लोगों से हेल-मेल बढ़ावें। पश्चात् यह कहते फिरें कि शून्यपाल कहता था कि राजा सङ्कट में पड़ा है और शायद ही बचेगा, इसलिए धन-द्रव्य का सञ्चय करके शत्रुता न बढ़ाओ, यदि ऐसा करोगे तो तुम सब मार डाले जाओगे। जब कभी लोग इकट्ठा हो जायँ तब उन्हें तीक्ष्ण जासूस शहर के बाहर किसी प्रकार ले जायँ और उनके नेताओं को मार डालें और यह कह दें कि शून्यपाल की आज्ञा जो नहीं मानता उसको यही होना है। फिर उस ऊसर-भूमि में जगह जगह पर वे ख़ून से भरे, शस्त्र, द्रव्य, रस्सी आदि फेंक दें। फिर दूसरे जासूस यह ख़बर उड़ा दें कि शून्यपाल लोगों को

मारकर उनका धन लूटा करता है। इसी प्रकार समाहर्ता और लोगों को आपस में ही लड़ा दें।"

"कुछ जासूस राजा या राजपुरुषों के पास जाकर नौकरी कर लें। कभी मौक़ा पाकर वे अपने मित्रों से कहें कि राजा पैदल-सेना, अश्वसेना, रथसेना और हस्ति-सेना के नायकों से क्रुद्ध है। फिर जब ये लोग एकत्र मिलें तब रात्रि के पहरेदारों की आँख बचाकर राजा की आज्ञा का निमित्त करके उन्हें किसी घर में ले जायँ और वापस आते समय उन्हें वहाँ मार डालें। फिर दूसरे जासूस यह ख़बर उड़ा दें कि वे राजा के हुक्म से मारे गये हैं। जिन्हें देशनिकाले की सज़ा हो उन्हें वे यह बतावें कि हमने यह बात पहले ही बतला दी थी कि यदि सुरक्षित रहना हो तो और कहीं चले जाओ, यहाँ रहने में धोखा है।"

जासूस लोग पका मांस, भात, शराब और रोटी बेचने-वालों का भेष कर लें और इस बात की ख़ूब चर्चा छेड़ दें कि हमारे पास अभी कई नई चीज़ें आई हैं और उन्हें हम बहुत सस्ती बेचते हैं। जब शत्रु के लोग लेने आवें तो उन चीज़ों में विष मिलाकर उन्हें दे दें।"

इसी प्रकार शत्रु के जानवरों को भी मारने की तरकीबें कौटिल्य ने बताई हैं। धोखा देने की भी एक युक्ति देखिए। "रात्रि को लड़ाई हो तो जासूस लोग बन-ठन कर शत्रु की राजधानी में घुस पड़ें और यह ख़बर उड़ा दें कि राजा हार

गया है और देश पर दूसरे का अधिकार हो गया है। इस गड़बड़ में वे राजमहल में घुसकर राजा को मार डालें। अथवा राजा इधर-उधर भागने लगे तो.........वह मार डाला जाय।...अथवा यदि वह किसी.........स्थान में सुरक्षित जा बैठा हो तो स्फोटक पदार्थ अथवा सर्प-द्वारा वह मार डाला जाय।" "पूजास्थान में अथवा नित्य के अड्डे में शत्रु को मारने का उपाय करना चाहिए।" इसके लिए कौटिल्य ने अस्त्रशस्त्र से लगा कर विष देने और धोखे से दूसरे स्थान में ले जाकर मार डालने तक सभी उपाय बताये हैं।

धोखा देने का एक और उपाय देखिए। "मित्र का बहाना करके बाहर के किसी को यह ख़बर भेज दे कि शत्रु के दुर्ग में अनाज, तेल, गुड़ और नमक समाप्त हो चुका है। और नया किराना अमुक समय पर क़िले के अमुक स्थान पर पहुँचेगा। फिर इसके लिए.........ख़ास लोगों को नियत करके उस समय उस स्थान पर विषयुक्त अनाज, तेल, गुड़ और नमक भेज दिया जाय"। इस प्रकार शत्रु और उसके लोग नष्ट हो जायँगे।

यदि हारने का मौक़ा आपड़ा हो तो राजा क्या करे? पहले तो ख़ूब लड़कर देखे। सफल न होते देख......कुछ लोगों को लेकर परिव्राजक के भेष में भाग जाय। अथवा जासूस लोग उसे मुर्दे के समान उठा ले जायँ। अथवा

स्त्री-वेष में (मानों पति के शव के साथ स्त्री जाती है) किसी शव के पीछे चला जाय।.........यदि दुर्ग में बन्दी हो जाय तो किसी मूर्ति को पोली करके उसमें......जा छिपे। अथवा दीवार में पोली जगह बनाकर वहाँ जा बैठे।.........और जब उसका ख़याल सब लोग भूल जायँ तब चुपचाप किसी गुप्त सुरंग के द्वारा निकल कर महल में जाय और शत्रु को सोता पाकर मार डाले अथवा उस पर किसी यन्त्र का प्रहार करे। यदि शत्रु किसी विषाक्त या स्फोटक पदार्थों से बने स्थान में हो तो वहाँ आग लगा दी जाय। या (विजय के बाद) जब शत्रु आमोद-प्रमोद में मग्न हो तब तीक्ष्ण जासूस ज़मीन के नीचे बने घरों में अथवा सुरङ्गों में छिपे रहकर एकाएक उस पर धावा कर दें और उसे मार डालें।"

"सङ्घों (की सहायता) के लाभ सेना-मित्र के लाभ से कहीं अधिक हैं। (इसलिए) साम और दान से राजा ऐसे सङ्घों को सदा मिलाये रहे जिनसे शत्रु का कुछ बस न चले और जिनकी प्रवृत्ति अपनी ओर हो। परन्तु जो प्रतिकूल हों उन्हें भेद और दण्ड के द्वारा दबाना चाहिए।"

इसके बाद कौटिल्य ने बतलाया है कि उन्हें भेद और दण्ड के द्वारा कैसे दबाना चाहिए। इनमें से कई प्रकार वैसे ही हैं जैसे ऊपर बतला चुके हैं। इसकी चुगली उसके पास और उसकी चुगली इसके पास करके दोनों को लड़ा देना

और बने तो इस प्रकार उन्हें नष्ट करवा डालना बहुत मामूली उपाय है। यदि उनके बीच पहले से किसी कारण मत-भेद हो तो उसे बढ़ा कर उनमें लड़ाई करवा देना भी उचित होगा। हीनों की प्रशंसा करके उन्हें बढ़ावा देना भी एक उपाय हो सकता है। पहले बतलाये गये उपाय के अनुसार किसी के पुत्र को राजपुत्र कहकर उसे अपनी ओर कर लेना और फिर उसके द्वारा दूसरों को नष्ट करके उसका नाश करना भी एक उपाय हो सकता है। किसी न किसी बहाने विष खिला देना तो मामूली बात है। इसी प्रकार जब कभी स्त्रियों का उपयोग हो सके तब स्त्रियों-द्वारा उसका नाश करना अथवा किसी सुन्दर स्त्री के लिए लड़ाई खड़ी करवा देना भी मामूली उपाय है। एक उदाहरण लीजिए। "भिक्षुणी" (वेष का जासूस) किसी श्रेष्ठ मुखिया से कहे, "देखिए यह मुखिया जवानी की उमङ्ग में आपकी स्त्री को फँसाना चाहता है। उसके कहने से मैं (आपकी स्त्री के लिए) यह पत्र और आभरण लेते आई, (परन्तु) आपकी पत्नी का (इसमें) कोई दोष नहीं। आप चुपचाप इसका प्रतीकार करें। और (मैं चाहती हूँ कि) आप इसमें सफल हों।" इस वर्ग के कई उपाय कौटिल्य ने सङ्घों के मुख्यों को लड़ाने के लिए बताये हैं।

ऊपर हम बतला चुके हैं कि शत्रुओं अथवा दुष्टों को दूर करने के लिए विष खिलाने के कई उपाय कौटिल्य ने

बताये हैं। इसलिए एक अध्याय में नाना प्रकार के विषों के भेद भी बता दिये गये हैं, और उन्हें किस प्रकार खिलाना चाहिए इसका सविस्तर वर्णन कर दिया गया है। शत्रु अथवा दुष्ट लोगों को दण्ड देने की रीतियाँ इतने में ही नहीं समाप्त होतीं। आगे और भी कई अद्भुत उपाय, जादूगरी के उपाय और मन्त्रोपाय, भी बताये गये हैं। कहीं कई दिनों तक कुछ चीज़ों को खाकर कैसे उपवास कर सकते हैं यह बताया है तो कहीं यह बताया है कि किसी वस्तु या जानवर के रंग कैसे बदल सकते हैं। कहीं ज्वालाग्राही पदार्थों के बनाने की रीतियाँ दी हैं तो कहीं अग्नि से सामना करने अथवा अग्नि को बुझाने के उपाय दिये हैं। मुँह से धुआँ और अग्नि उगलने की तदबीरें इसी अध्याय में हैं। इस प्रकार के जादूगरी के कई प्रकारों का वर्णन इसके साथ है। बिना थके-माँदे मीलों तक जा सकने के उपाय भी यहाँ दिये गये हैं। शत्रु अथवा दुष्ट लोगों से सामना करने के लिए इन सब उपायों के उपयोग की आवश्यकता है। इन उपायों को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि कौटिल्य ने इन्द्र-जाल-विद्या अच्छी तरह सीखी थी। वह यह भी जानता था कि दूसरे का नाश करने के लिए जिन उपायों का स्वयं उपयोग करेंगे उनका अपने पर दूसरा भी उपयोग करेगा। इसलिए नाना तरह के विषों से या किसी चीज़ के खाने पर होनेवाली व्यथा या बीमारी से बचने के लिए भी आवश्यक उपायों का बतलाना ज़रूरी है। और

इसलिए कौटिल्य ने वे भी बता दिये हैं। कुटिल नीति में इन सबकी आवश्यकता है।

इस प्रकार के सैकड़ों उपाय कौटिल्य ने बताये हैं। उसका सारांश में कहना यह है कि काम, क्रोध, डरपोंकपन, कारुण्य, लज्जा, अनार्यभाव, मान, दयाभाव, परलोक की चिन्ता, धार्मिक अत्याहितत्व, दैन्य, असूया, हाथ की वस्तु की बेपरवाही, औदार्य, अविश्वास, भय, शीत-उष्ण-वर्षा सहने की शक्ति का अभाव, तिथि-नक्षत्र-ग्रहों के शुभाशुभ परिणामों पर विश्वास आदि लाभ के विघ्नकर्ता हैं।

> नक्षत्रमतिपृच्छन्तं बालमर्थोऽतिवर्तते ।
> अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यति तारकाः ॥
> साधनाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् नरा यत्नशतैरपि ।
> अर्थैरर्थाः प्रबन्धन्ते गजाः प्रतिगजैरिव ॥

"जो बालिग़ मनुष्य नक्षत्रों के (शुभाशुभ परिणामों के पीछे) लगा रहता है उसके पास धन नहीं जाता। क्योंकि धन ही धन का नक्षत्र है, तारे (बेचारे) इसमें क्या कर सकते हैं? जिसमें योग्यता है वह हज़ार उपायों से धन की प्राप्ति कर सकता है। क्योंकि जिस प्रकार हाथी से हाथी पकड़ा जाता है, उसी प्रकार धन की भी बात है।" रुपये के पास ही रुपया जाता है! क्या ही मौक़े की बात कौटिल्य ने यहाँ बता दी है!

इन सब बातों को पढकर कोई कहेगा कि राजनीति की ये बातें किसी सभ्य राष्ट्र को शोभा नहीं देतीं। इस पर हमारा यह उत्तर है कि कौटिल्य ने यह ग्रन्थ चन्द्रगुप्त के लिए लिखा था। चन्द्रगुप्त बड़ो कठिनाई से, अनेक छलबल के बाद, पाटलिपुत्र के सिंहासन पर विराजमान हो सका। उसके पहले इस देश में राजा लोग आपसी झगड़ों में फँसे रहते थे। अपने अपने बचाव का उपाय प्रत्येक को करना आवश्यक था। और आत्मरक्षा के समय राजनीति अत्यन्त कुटिल हो जाती है, फिर उसे धर्माधर्म का विचार नहीं रहता। चन्द्रगुप्त ने जिस प्रकार सिंहासन प्राप्त किया था, उस प्रकार उसे उसकी रक्षा भी करनी थी। इस कारण रात-दिन आत्मरक्षा का विचार करना आवश्यक था। और उसके लिए यदि नीति की सूक्ष्म उलझनों में राजा पड़ता तो उसे अपनी रक्षा करना असम्भव हो जाता। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि कौटिल्य ने उसे ऐसी कुटिल नीति का उपदेश किया है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या आज-कल के सभ्य कहे जानेवाले राष्ट्र इन दोषों से परे हैं? क्या इँग्लेंड की पार्लिमेंट को यह अधिकार नहीं है कि वह चाहे तो बिल आव् अटेण्डर-द्वारा किसी भी पुरुष को फाँसी के हवाले कर दे? शत्रु को नष्ट करने के जितने उपाय कौटिल्य ने बताये हैं, क्या उनका उपयोग आज-कल भी शान्ति और युद्ध दोनों समय में नहीं हुआ है? क्या भेद-नीति के तमाम सूक्ष्म उपायों

का उपयोग योरप में अब भी नहीं होता ? क्या जित राष्ट्र के लोगों में हमेशा झगड़े-फ़िसाद चुपचाप पैदा करते रहना आज-कल के सभ्य राष्ट्रों का काम नहीं देख पड़ता ? कमज़ोर राष्ट्रों के टुकड़े नोचते रहने में क्या यूरोपीय राष्ट्र किसी से पीछे रहे हैं ? सार बात यह है कि स्वार्थ आज भी सब कुछ कराता है। शुद्ध नीति से कौटिल्य की कुटिल नीति का समर्थन होना कठिन है। परन्तु शुद्ध नीति का साम्राज्य न पहले कभी हुआ था और न आज देख पड़ता है, आगे कभी हो तो कह नहीं सकते। कौटिल्य में और आज-कल के कुटिल मुत्सद्दियों में भेद इतना ही है कि कौटिल्य ने एक राजा को उपदेश देने की आवश्यकता के कारण अपनी बातें एक ग्रन्थ में लिख कर बता डालीं; आज-कल के मुत्सद्दी बताते-बोलते नहीं, प्रत्युत बड़े सुहावने तत्त्वों को लोगों के सामने पेश किया करते हैं। परन्तु अपनी करनी से वे चूकते भी नहीं, और उन कार्यों पर शुद्ध उच्च तत्त्वों का मुलम्मा लगाने का प्रयत्न करते हैं। चाणक्य ने ऐसी बातें क्यों लिखीं, यह जानना हो तो योरप के मैकीवेली ने जो ग्रन्थ लिखा है उसे पढ़ना चाहिए, और वह किस कारण लिखा गया इस बात पर ध्यान देना चाहिए। मैकीवेली और कौटिल्य के कथनों में बहुत कुछ सादृश्य है, इस कारण कौटिल्य को कई लोगों ने "भारतीय मैकीवेली" कह डाला है। शान्ति-स्थापन के लिए कभी कभी शासकों को नीति

और धर्म के सब तत्त्व ताक पर धर देने पड़ते हैं और जो कोई उपाय सूझ पड़ता है उसी से काम चलाना पड़ता है। ऊपर-ऊपर देखने में तो ऐसा जान पड़ता है कि कौटिल्य ने ये बातें सब काल और सब देश के लिए कही हैं, परन्तु हम अपनी इस समझ से कौटिल्य के साथ बड़ा अन्याय करेंगे। हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि कौटिल्य ने यह ग्रन्थ एक खास राजा के लिए लिखा था और उस समय यदि किसी बात की अत्यन्त आवश्यकता थी तो वह शान्ति की और आत्मरक्षा की। इन दो बातों के लिए उसे उस समय के उपाय बताने पड़े। यह हम न समझ बैठें कि कौटिल्य को शुद्ध नीति के तत्त्व स्वीकार न थे। राजा कैसा होना चाहिए, उसे क्या क्या करना चाहिए, इत्यादि बातों के कौटिल्य ने जो नियम प्रारम्भ में दिये हैं उन्हें ख़याल में लाते ही कौटिल्य की नीति के विषय का हमारा भ्रम दूर हो जायगा।

अध्याय १२

राज्य का स्वरूप

अब तक के वर्णन से कौटिल्य का राज्य अनियंत्रित जान पड़ता है। सारे अधिकार एकाधिकारी राजा के हाथ में हैं। मन्त्रिमण्डल है ज़रूर, परन्तु उसे कुछ निजी अधिकार नहीं

हैं, जो कुछ अधिकार हैं वे कर्तव्य-स्वरूप में हैं और इस कारण वे राजा की मर्ज़ी पर अवलम्बित हैं। ऐसे राज्य में कोई भी कहेगा कि राजा का स्वैरसंचार होना चाहिए। परन्तु यह अनुमान करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि राजा किस प्रकार का होना चाहिए और उस पर कुछ कर्तव्य लदे हैं या नहीं और राज्य के क्या उद्देश्य हैं। राजा के जितने गुण बतलाये हैं उनमें नैतिक गुण ही विशेष हैं और वे विशेष महत्त्व के हैं। उन्हें देखते हुए कोई यह नहीं कह सकता कि एकाधिकारी राजा को कौटिल्य ने स्वैरसंचार की स्वतन्त्रता दे दी है। राज्य के उद्देशों में अर्थ और काम ही नहीं किन्तु धर्म भी है। इन उद्देशों की पूर्ति करना उसका कर्तव्य है। यदि ऐसा राजा रहा, ये उद्देश रहे और राजा उसकी पूर्ति करता रहा तो एकाधिकारी राज्य होने पर भी वहाँ की प्रजा अत्यन्त सुखी हो सकती है। यह बात अरस्तू ने भी मानी है। लोक-तन्त्र सदैव अच्छा ही होता है और उससे मनुष्य के उद्देश पूर्ण होते हैं और उससे सुख ही मिलता है, ऐसा कोई दावे के साथ नहीं कह सकता। अरस्तू ने इस बात को माना है। लोक-तन्त्र को अच्छा कहने का कारण इतना ही है कि मनुष्यस्वभाव के कारण अनियंत्रित राज्य-सत्ता का उचितोपयोग के बदले दुरुपयोग हो सकता है। लोक-तन्त्र में भी यह संभव है, परन्तु अनियंत्रित राज्याधिकार में जितनी बुराई संभव है, उतनी लोकतन्त्र में नहीं।

लोकतन्त्र के अधिकारी प्रजा के प्रतिनिधि होते हैं, और वे एक नहीं किन्तु कई रहते हैं। इसलिए उनके हाथ से बुराई होने की संभावना कम रहती है, तथापि नहीं रहती ऐसा कोई नहीं कह सकता। परन्तु अच्छे राजा के राज्य में जितनी भली बातें संभव हैं उतनी लोकतन्त्र में नहीं। लोकतन्त्र पर अनेक बन्धन होते हैं और इस कारण उसके कार्य मंदगति से चलते हैं। राजा आदर्शपुरुष हो तो 'रामराज्य' की कल्पना प्रत्यक्ष सिद्ध हो सकती है।† इसी कारण राजा को इस देश में सदैव पितृभाव से अथवा ईश्वरभाव

---

† कौटिल्य का राजा क़ायदे की दृष्टि से भी नितान्त अनियन्त्रित नहीं है। चौथे अधिकरण के १३ वें अध्याय के अन्त में कहा है:—

अदण्डदण्डने राज्ञो दण्डस्त्रिंशद्गुणोऽम्भसि।

वरुणाय प्रदातव्यो ब्राह्मणेभ्यस्ततः परम्॥

दण्डनीय न हो उसे यदि राजा (भूल से) दण्ड दे दे तो दण्ड का तीस गुना वरुण के नाम से पानी में डाल दे और फिर वह ब्राह्मणों को दे दिया जाय। इससे ऐसा कहना पड़ता है कि उस समय हमारे यहाँ यह मानते थे कि राजा से भी दोष हो सकता है (The king also can do wrong) और उसके लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए। राजा से दोष होता ही नहीं (The king can do no wrong) ऐसा सिद्धान्त इस देश में कभी प्रचलित नहीं हुआ। आश्चर्य की बात है कि लोकतन्त्रात्मक इँग्लैंड में वह अब तक बना हुआ है। भली बात इतनी ही है कि राजा के अधिकारों को वहाँ इतना जकड़ डाला है कि इस सिद्धान्त से वहाँ अब अधिक डर रहा नहीं।

से मानते रहे हैं। पिता अपने बालबच्चों की रक्षा करता, आवश्यक चीज़ें देता और शिक्षा देकर उन्हें आत्मावलम्बी बना देता है। इनमें से बहुत से कार्य कौटिल्य ने राजा के सिर पर रख दिये हैं। इस दृष्टि से राज्य समाज-सत्ता का मतावलम्बी बन बैठता है। लोकहित के लिए लोगों के व्यक्तिगत अधिकार नियंत्रित किये गये हैं। राजा को लोकहित के कौन से कार्य करने चाहिए और उसके लिए आवश्यकतानुसार व्यक्तिस्वातंत्र्य भी न मानना चाहिए इस तत्त्व को कौटिल्य ने माना था। इसके कई उदाहरण उसकी पुस्तक में हैं। इन्हीं में से कुछ कुछ चुनकर हम यहाँ देते हैं। इनसे कौटिल्य के राज्य का स्वरूप अधिक स्पष्ट देख पड़ेगा।

इस देश में अब भी जब कभी दुष्काल पड़ता है, तब लोग सरकार से लगान की माफ़ी चाहते हैं। यह प्रथा पुरानी जान पड़ती है। मौसमी वर्षा के हिन्दुस्थान जैसे कृषि-प्रधान देश में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। कौटिल्य कहता है कि जब कभी नई ज़मीन बसाई जाय या कोई भारी मौके आपड़ें तो कर की माफ़ी करना चाहिए। इतना ही नहीं, लोग समय समय पर कर देते रहें तो (ज़रूरत पड़ने पर) उन्हें धन-धान्य और ढोर भी देने चाहिए। इतना ही नहीं बरन रोज़ी का प्रबन्ध करना भी राज्य का कर्तव्य था। "जो स्त्रियाँ घर के बाहर नहीं निकलतीं, या जिनके पति परदेश गये हैं, या जो किसी कारण चल नहीं सकतीं या जिन्

लड़कियों को अपने पेट के लिए काम करने की आवश्यकता है, उन्हें नौकरानियों के हाथ घर पर बुनने के लिए सूत विनयपूर्वक भेजना चाहिए।" "जो सूत के कारखाने में प्रातःकाल सूर्य निकलने के पहले आ सकती हैं उनसे उनकी बुनी हुई चीज़ लेकर उनके दाम दे देने चाहिए। उस समय केवल इतनाही प्रकाश रहे कि जितना सूत देखने के लिये पर्याप्त है।" किये काम के दाम समय पर न देने से अधिकारी को दण्ड होता था। सरकारी काम करते करते यदि किसी कर्मचारी की मृत्यु हो तो उसके बालबच्चे तथा स्त्री के उदरपोषण का प्रबन्ध करना चाहिए। मृत के आश्रितों का भी ख़याल रखना चाहिए। जिन नौकरों पर मृत्यु, बीमारी, अथवा प्रसूति के (ख़र्च के) मौके आवें, उन्हें द्रव्यद्वारा सहायता देनी चाहिए। "अनाथ, वृद्ध, शक्तिहीन, आपद्ग्रस्त, और निःसहायों की रक्षा राजा करे। जो गर्भवती स्त्रियाँ निःसहाय हों उन्हें और प्रसूति के बाद उनके बच्चे को खाने-पीने को देना उसका कर्तव्य है।" "देहात के वृद्ध पुरुष नाबालिगों की जायदाद की उनके बालिग़ होने तक देख-रेख करें।" आगे देखिए। "'पतित' को छोड़ अन्य कोई सामर्थ्यवान् पुरुष या माता अपने बच्चे, पत्नी, माता, पिता, नाबालिग़ भाई और बहिन, विधवा लड़कियों की ख़बरदारी न करें तो उन पर बारह पण जुर्माना करना चाहिए।" आज-कल भी इस प्रकार की जवाबदारी लोगों पर है, परन्तु

वह केवल पत्नी और संतति के सम्बन्ध में ही है। आज-कल का क़ायदा पश्चिम से आया है, परन्तु कौटिल्य ने जो अवश्य पोषणीय लोगों की बड़ी भारी सूची बताई है वह हिन्दू-समाज की कल्पनाओं के विरुद्ध नहीं है। पत्नी और बालबच्चे ही नहीं किन्तु बूढ़े माता-पिता, छोटे भाई-बहिन और आप्त विधवाओं का भरण-पोषण करना हमारे यहाँ सदैव से कर्तव्य माना गया है। इतना ही नहीं, कौटिल्य ने यह भी कहा है कि जो पुरुष पत्नी, पुत्रादि के खाने-पीने की व्यवस्था किये बिना परिव्राजक होगा उस पर दण्ड करना चाहिए। इसी प्रकार की (यानी जिसने बालबच्चों की व्यवस्था नहीं की है ऐसी) स्त्री को परिव्राजिका बनानेवाला भी दण्डनीय होगा। सन्ततिजनन की उम्र बीत जाने पर कोई भी परिव्राजक हो सकता है। परन्तु ऐसा करने से पहले अपनी जायदाद बालबच्चों को बाँट देनी चाहिए, अन्यथा वह दण्डनीय होगा। बालबच्चों और आप्त आश्रितों की ही नहीं बरन नौकरों-चाकरों की भी जवाबदारी लोगों पर थी। "जो अपने दासों और आहितकों (मज़दूरों) के अधिकारों का ख़याल न करें उन्हें उनका कर्तव्य सिखलाया जाय" यानी वे इस बेख़याली के लिए दण्डनीय हों। सारी भूमि राज्य की थी, भूमि के भीतर की चीज़ें राज्य की थीं और भूमि पर उगने-वाली वनस्पति अथवा पानी में रहनेवाले प्राणी भी राज्य के थे—उन सब पर राजा का यानी राज्य का स्वामित्व था।

ये ही सिद्धान्त हिन्दुस्थान में आज-कल प्रचलित हैं। यह तो सरासर समाज-सत्तावाद है।

राजा अपने लिए तो सामान बनाता ही था, वरन् लोगों के लिए भी बनाता था और उनकी दूकानें रखता था। इतना ही नहीं, वह अपना माल परदेश में भेजकर बेचता था। यह अन्तिम काम आज-कल न तो राज्य का माना जाता है और न कोई राज्य करता ही है। लोकहित के लिए कारख़ाने या दूकान खोलना बात अलग है और द्रव्य ही कमाने के लिए व्यापार करना बात अलग है। यह कार्य तो समाज-सत्तावाद से आगे चला गया है।

राजा ज़मीन खोदकर जीता पानी निकालकर या अन्य कहीं से पानी लाकर सेतु (बाँध) बनवावे। अथवा, यदि कोई पुरुष ख़ुद बाँध बनवावे तो वह उसे ज़मीन, लकड़ी और अन्य आवश्यक चीज़ें दे और रास्ते बनवा दे। नगर में हर दस घर पीछे एक कुआँ बनाने के लिए कौटिल्य ने कहा है।

माप और तोल बनाने का काम सरकार के ज़िम्मे था। यदि किसी ने अपने बनाये तो उन्हें परख कर उनके ठीक होने का चिह्न-स्वरूप सरकारी छाप लगाने का काम राज्य का था।

अब तक हमने ऐसे कार्यों का विवेचन किया जो या तो निराश्रितों और निःसहाय की रक्षादि से सम्बन्ध रखते हैं या ऐसी चीज़ों से सम्बन्ध रखते हैं कि जिन्हें राज्य ही ठीक

ठीक कर सकता है। परन्तु राज्य के कार्यों का स्वरूप इतने में समाप्त न होता था। लोगों की भलाई की दृष्टि से लोगों का स्वातंत्र्य परिमित करने की ज़िम्मेदारी भी कौटिल्य ने राज्य पर लादी है।

"आर्य लोग मर्यादातिक्रम न करें, काम करनेवाले अपना काम न बिगाड़ें, तीक्ष्ण (जासूस) मनमाना कुछ न कर बैठें, इसलिए ऐसे लोगों को सुरा परिमित........प्रमाण में बेंची जाय।" स्मरण रहे कि शराब या तो राज्य की ओर से बनती थी या राज्य के परवाने पायें लोग ही बना सकते थे अन्य नहीं, और परवाने पायें लोग ही उसको बेंच सकते थे। घर पर ले जाने के लिए शराब सबको न दी जाती थी--लोग दूकान पर ही परिमित प्रमाण में पी सकते थे। केवल अच्छी तरह से जाने-समझे शुद्धाचरण लोग ही दूकान के बाहर शराब ले जा सकते थे। आज तो सिर्फ़ इतना ही नियम है कि सरकारी हुक्म के बिना कोई शराब नहीं बना या बेंच सकता। पीने पर इतना ही बन्धन है कि उन्मत्त होकर सार्वजनिक स्थानों में न जावे ताकि उससे लोगों को किसी प्रकार का डर न हो। परन्तु उस समय का राज्य लोगों की भलाई पर इतना ख़याल देता था कि चाहे जितनी शराब लोग न पीयें। इसी कारण दूकान के बाहर ले जाने की मनाही थी। जो किसी प्रकार ले जाते तो वे दंडनीय होते थे। कोई अपनी आमदनी के प्रमाण से अधिक ख़र्च शराब से करता तो वहाँ

इस बात पर नज़र रखने के लिए जासूस रखे जाते थे। दूकानदार पर बड़ी भारी ज़िम्मेदारियाँ थीं। यदि उन्मत्त होकर कोई कुछ वस्तु दूकान में खो बैठता तो उसको दूकानदार को भर देना होता था। सारांश में यह कह सकते हैं कि शराब के द्वारा लोगों की किसी प्रकार की हानि न होवे इस बात की ख़बरदारी लेना और उसके लिए सर्व आवश्यक नियम बनाना राज्य का कर्तव्य था।

मदिरापान के इन नियमों को मानने में आज भी बहुत आनाकानी न होगी, परन्तु एक और उदाहरण हम ऐसा देते हैं कि जिसमें यह देख पड़ेगा कि अपनी भलाई के लिए कुछ आवश्यक चीज़ें रखना और जनहित के कुछ आवश्यक काम लोगों से करवाना भी राज्य का कर्तव्य था। आग के भय को दूर करने के लिए जो नियम बताये गये हैं, वे इसके अच्छे उदाहरण हैं। रात को आग जलाने की मनाही करने में कोई बहुत भारी बात नहीं। आग लगने के डर को दूर करने के लिए इतना तो उस समय आवश्यक था ही। आग से बचने के लिए यह भी आवश्यक था कि प्रत्येक गृहस्थ अपने घर में पाँच पानी के घड़े, एक कुम्भ (पानी लाने का घड़ा), एक द्रोण (काठ का एक पात्र), एक सीढ़ी, एक कुल्हाड़ी, एक सूप, एक अंकुश (शायद, हुक) और मशक रखे। इतना ही नहीं किन्तु आग लगने पर उसे बुझाने के लिए दौड़ जाना भी प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य था। शायद यह भी नियम था

कि आग लगने पर फूस के छप्पर निकाल देने चाहिए। लोकहित के लिए लोक-स्वातन्त्र्य पर ऐसा हमला आज-कल भी कम ही देख पड़ेगा।

हमने ये थोड़े से उदाहरण पुस्तक से चुन कर दिये हैं। खोजने पर और भी मिल सकेंगे। इन नियमों के रहते कोई यह कह सकता है कि उस समय का राज्य लोक-रक्षा के कार्यों के सिवा और कुछ न करता था या नितांत अनियन्त्रित था और इस कारण बड़ा कष्टप्रद रहा होगा? हम तो समझते हैं कि इन नियमों के रहते ऐसा कहना नितांत दुःसाहस ही होगा। इन नियमों और कर्त्तव्यों ने उस समय की अनियन्त्रित सत्ता को लोकहित की दृष्टि से बहुत कुछ नियन्त्रित कर दिया था। उसका रूप सौम्य, सह्य, इच्छायोग्य और हितकारी देख पड़ता है।

परिशिष्ट १ ला

कौटिल्य और गीता

गीता के काल-निर्णय के लिए अनेक प्रमाण एकत्र किये जा चुके हैं, तथापि यदि कुछ अधिक प्रमाण मिल सकें तो वे मूल प्रमाणों को पुष्ट ही करेंगे। हम यहाँ कौटिल्य के 'अर्थ-शास्त्र' से कुछ ऐसे प्रमाण देना चाहते हैं जिनसे यह

अनुमान किया जा सकता है कि गीता कौटिल्य के बहुत पहले की है।

कौटिल्य ने चारों वर्णों के कर्तव्यों का जो वर्णन दिया है वह गीता से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। कौटिल्य कहता है—

स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति। क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्राजीवो भूत-रक्षणश्चेति। वैश्यस्याध्ययनं यजनं दानं कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च। शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा वार्ताकारूकुशीलवकर्म च.........स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च। तस्यातिक्रमे लोक-स्सङ्करादुच्छिद्येत।

इसके बहुत से विचार गीता के १८ वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों से मिलते हैं:—

शमो दमस्तपःशौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥
कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

इन श्लोकों से ऐसा जान पड़ता है कि उपरिलिखित वाक्य लिखते समय कौटिल्य के मन में ये श्लोक रहे होंगे।

इनसे यह भी देख पड़ता है कि चतुर्वर्णों के कर्म कौटिल्य के समय में गीता-काल से अधिक निश्चित हो चुके थे और इस कारण कौटिल्य ने चतुर्वर्णों के कर्मों को एक एक करके स्पष्ट गिना दिया है। इससे यह अनुमान होता है कि गीता-काल कौटिल्य से सदी दो सदी पहले अवश्य था। परन्तु इन अनुमानों पर एक आक्षेप यह हो सकता है कि कौटिल्य के समय में चतुर्वर्णों की कर्मव्यवस्था कौटिल्य के पहले से बनती आ रही थी और उसके समय में प्राय: निश्चित हो चुकी थी। समाज में जो कल्पनायें रूढ़ हो चुकी थीं उन्हीं को कौटिल्य ने यहाँ बतलाया है। वे गीता से ही ली गई हैं, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसलिए हम कुछ अधिक प्रमाण देना चाहते हैं। कर्म-सम्बन्धी कल्पनायें भले ही प्रचलित समाज से ली गई हों, परन्तु उनके परिणामसम्बन्धी कल्पना को समाज से लेना सम्भवनीय नहीं। इसका कारण यह है कि ऐसी सुदूर कल्पना समाज में रातदिन प्रचलित नहीं रहती। उसके जानने और बनानेवाले बहुधा थोड़े लोग रहते हैं। उदाहरणार्थ, कौटिल्य का यह श्लोक—चतुर्वर्णाश्रमो लोक: राज्ञा दण्डेन पालित:। स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु—गीता के इस श्लोक से—स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:—मिलता-जुलता है। अतएव यही अनुमान ठीक ठहरता है कि कौटिल्य का काल गीता के बाद का है। "अर्थशास्त्र" में कई स्थानों में "ये गत्क्षेमवहा:" शब्द

आया है और ऐसा जान पड़ता है कि वह गीता से ही लिया गया है।

कौटिल्य का एक श्लोक—

यान्यज्ञसङ्घैस्तपसा च विप्राः
स्वर्गैषिणः पात्र चयश्च यान्ति।
क्षणेन तानप्यतियान्ति शूराः
प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः॥

गीता के निम्नलिखित श्लोक से बहुत कुछ मिलता है—
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ गी० २। ३२॥

हमें ऐसा भी जान पड़ता है कि कौटिल्य ने जब उपरिलिखित श्लोक रचा तब उसके ध्यान में गीता का निम्नलिखित श्लोक भी था—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ गी० ११। ४८॥

इस श्लोक के कुछ शब्द कौटिल्य के उपरिलिखित श्लोक में मिलते हैं ही, पर दोनों के छन्द भी वही अर्थात् उपजाति जान पड़ते हैं। भेद इतना ही है कि गीता के श्लोक के तीसरे चरण का तीसरा अक्षर ह्रस्व होने के स्थान में दीर्घ है।

परन्तु गीता में इस प्रकार के कई छन्द हैं। और इससे यही जान पड़ता है कि गीता कौटिल्य से पुरानी है— गीता-काल में छन्दों के नियम उतने निश्चित नहीं थे जितने कौटिल्य के समय में।

एक स्थान पर विशालाक्ष का मत कौटिल्य ने दिया है। वहाँ युद्ध में पराक्रम दिखलाने के विषय में कहा है कि 'स्वधर्मश्चैव क्षत्रियस्य। युद्धे जयः पराजयो वा' ये शब्द भी गीता से लिये जान पड़ते हैं।

हमारे ये अनुमान 'अर्थशास्त्र' के कुछ उल्लेखों से भी सिद्ध होते जान पड़ते हैं। 'अर्थशास्त्र' में दुर्योधन, युधिष्ठिर, वृष्णि, द्वैपायन आदि का उल्लेख तो है ही, परन्तु देवताभाव से कृष्ण का भी उल्लेख मिलता है। इन सब बातों से यह पता चलता है कि कौटिल्य के समय तक गीता का यथेष्ट प्रचार हो गया था। हाँ, हमें यह मानना होगा कि अकेले 'अर्थशास्त्र' के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि गीता कौटिल्य के कितने पहले बनी थी। जो कुछ कहा जा सकता है वह इतना ही कि गीता कौटिल्य से पुरानी है।

———

परिशिष्ट २ रा

कौटिल्य का काल-मान

काल और देश (अर्थात् भूमि) नापने की आवश्यकता सब समाज में होती है। सभ्य लोगों का काम उसके बिना चलता ही नहीं। असभ्य भी बिना देश-काल-मान के काम नहीं कर सकते। आज-कल भिन्न भिन्न देशों में 'देश'-मान की भिन्न भिन्न व्यवस्थायें हैं। काल-मान की भी थोड़ी बहुत यही अवस्था है। हाँ, इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि देश-मान की अपेक्षा काल-मान में अधिक समानता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। काल-मान की जितनी आवश्यकता है और उससे जितने भिन्न भिन्न लोगों का सम्बन्ध पड़ता है उतना देश-मान से नहीं। आज-कल सभ्य-समाज में काल-मान के कुछ समान नाम प्रचलित हैं। सप्ताह, घण्टा, मिनट और सेकंड का उपयोग क़रीब क़रीब सभी जगह है। परन्तु मास और वर्ष का अर्थ कई समाजों में भिन्न भिन्न होता है। हिन्दुओं में बहुधा चान्द्रमास प्रचलित है। इसके कारण कभी अधिक तिथियाँ तो कभी कम तिथियाँ होती हैं। वर्ष भी चन्द्र के अनुसार गिना जाता है, परन्तु मलमास जोड़ कर बीच बीच में उसे सौर वर्ष के बराबर करने का प्रयत्न किया जाता है। हिन्दुओं में भी इस बात में एकता नहीं है। बङ्गाल में सौरवर्ष और सौरमास प्रचलित हैं। मुसलमानों में

केवल चान्द्रमास और चान्द्रवर्ष हैं, सौरवर्ष नहीं। हिन्दुओं का वर्षारम्भ भी एक नहीं है। कहीं चैत्र-शुक्ल प्रतिपदा से वर्षारम्भ होता है तो कहीं कार्तिक-शुक्ल प्रतिपदा से। मासारम्भ भी एक नहीं। कहीं पूर्णिमा के बाद से मास का प्रारम्भ होता है तो कहीं अमावस्या के बाद से। हम इस लेख में यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि हमारे देश में कौटिल्य के समय अर्थात् क़रीब सवा दो हज़ार वर्ष पहले काल-मान किस प्रकार किया जाता था। इसका एक-मात्र आधार कौटिल्य का 'अर्थ-शास्त्र' है।

'अर्थ-शास्त्र' के दूसरे अधिकरण के बीसवें अध्याय में कहा है—'त्रुट, लव, निमेष, काष्ठा, कला, नालिका, मुहूर्त, पूर्वभाग (पूर्वाह्न), अपरभाग (अपराह्न), दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग ये काल के मान हैं।' इनमें कुछ शब्दों का ठीक ठीक अर्थ कई लोगों को मालूम नहीं। इसलिए इन शब्दों की व्याख्या देना आवश्यक है।

दो त्रुट का एक लव।
दो लव का एक निमेष।
पाँच निमेष की एक काष्ठा।
तीस काष्ठा की एक कला।
चालीस कला की एक नाडिका।
दो नाडिका का एक मुहूर्त।

पन्द्रह मुहूर्त का एक दिवस या रात्रि* ।

एक दूसरे स्थान पर कहा है कि 'राजवर्ष', मास, पक्ष, दिवस, व्युष्ट (प्रभात), वर्षा-हेमन्त-ग्रीष्म के (पन्द्रह दिन से) एक दिन कमवाले† तृतीय और सप्तम पक्ष और

---

* दिवस या रात्रि की अवधि बारह घण्टों की है । जब दिवस और रात्रि दोनों बराबर मान के होते हैं तब का यह मान है । कौटिल्य ने कहा है कि ऐसा दिवस या रात्रि 'चैत्र' और 'अश्वयुज' (आश्विन) में होते हैं । इसका अधिक विचार हमने आगे किया है उसे देखिए ।

† कौटिल्य ने आगे बतलाया है कि वर्षा के महीने श्रावण और भाद्रपद, हेमन्त के मार्गशीर्ष और पौष, तथा ग्रीष्म के ज्येष्ठ और आषाढ़ हैं । इसके अनुसार शामशास्त्रीजी ने ऊपर के वाक्य का यह अर्थ निकाला है कि भाद्रपद-शुक्लपक्ष, मार्गशीर्ष-कृष्णपक्ष, पौष शुक्लपक्ष, ज्येष्ठ-शुक्लपक्ष, आषाढ़-कृष्णपक्ष और श्रावण-कृष्णपक्ष १४ दिन के होते हैं । शेष पक्ष पंद्रह दिन के । इसके अनुसार वर्ष ३५४ दिन का होता है; अन्यत्र यह बतलाया गया है कि चान्द्रमास २९½ दिन का होता है । ऐसे बारह मासों से ३५४ दिन का चान्द्रवर्ष होता है । कौटिल्य ने यह बतलाया है कि वर्ष में ३५४ दिन होते हैं । यह चान्द्रवर्ष ही होना चाहिए ।

सौरवर्ष ३०½ दिन के बारह मासों का अर्थात् ३६६ दिन का बतलाया गया है । आगे एक स्थान पर यह बतलाया गया है कि पाँच वर्ष का युग होता है और एक युग में ३० दिन के दो मलमास होते हैं । इस प्रकार पाँच वर्ष में चान्द्रवर्ष और सौरवर्ष का मिलान हो जाता है । दोनों के अनुसार युग १८३० दिन का निकलता है । इस कारण यह कहना पड़ता है कि श्रीशामशास्त्रीजी का अर्थ ठीक है । हाँ, इसी एक वाक्य से ठीक यही अर्थ निकालना कठिन है ।

बाकी पूर्ण (पन्द्रह दिनवाले) पक्ष और एक अलग अधिक मास काल के भाग हैं।

मराठी में एक प्रख्यात ज्योतिःशास्त्रज्ञ हो गये हैं। आपका नाम था शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित। आपने भारतीय ज्योतिष-शास्त्र का इतिहास लिखा है। तुलना के लिए उसकी कुछ बातें हम यहाँ देंगे। आप कहते हैं कि वेदों में मुहूर्त, कला और काष्ठा काल-मान आये हैं। मुहूर्त का मान उसमें भी उतना ही है जितना कौटिल्य ने बतलाया है। परन्तु वेद से कला और काष्ठा के मान की कल्पना ठीक ठीक नहीं होती। आगे ऋग्वेद-ज्योतिष का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं कि उसमें मुहूर्त दो नाडिका के बराबर बतलाया गया है। पर जो अन्य काल-मान उसमें हैं वे चाणक्य के ग्रन्थ में नहीं हैं। अथर्व-ज्योतिष में दिये गये काल-मानों के नाम तो चाणक्य के नामों से बहुत कुछ मिलते हैं, परन्तु काल-मान के प्रमाण नहीं मिलते। कहीं कहीं तो बड़ा भारी अन्तर देख पड़ता है। श्रीदीक्षित के अनुसार अथर्व-ज्योतिष के काल-मान आगे दिये गये हैं*—

---

* भारतीय ज्योतिःशास्त्र पृष्ठ ९७। हमने तृतीय अध्याय के एक पाद-टिप्पणी में यह लिखा है कि अन्य तीन वेदों को कौटिल्य के काल में जो मान मिल चुका था वह अथर्ववेद को न मिला था और इससे यह अनुमान निकलता है कि अथर्ववेद कौटिल्य के कुछ ही पहले बना। यही अनुमान कालमान के शब्दों का जो मिलान यहाँ हमने किया है, उससे भी निकलता है।

१२	निमेष	=	१ लव
३०	लव	=	१ कला
३०	कला	=	त्रुटि
३०	त्रुटि	=	१ मुहूर्त
३०	मुहूर्त	=	१ अहोरात्र

उस समय आज-कल के काल-मापक यन्त्र तो थे नहीं। फिर, ये काल-मान किस प्रकार नापे जाते थे? इसके लिए दो पद्धतियाँ थीं। एक छाया-पद्धति और दूसरी घटिका-पद्धति। छाया के घटने के प्रमाण से दिन-काल का बीतना जाना जा सकता है। इस समय भी लोग कभी कभी इस पद्धति का थोड़ा बहुत उपयोग करते हैं। कौटिल्य ने छाया के प्रमाण ये दिये हैं—जब छाया आठ पुरुष (यानी ९६ अङ्गुल) हो तो समझना चाहिए कि दिन-काल का १/१८ भाग बीत गया। जब छाया छः पुरुष (यानी ७२ अङ्गुल) हो तो समझना चाहिए कि दिन-काल का १/१४ भाग बीत गया। इसी प्रकार दो पुरुष हो तो १/६ भाग, एक पुरुष हो तो १/४ भाग, आठ अङ्गुल हो तो ३/१० भाग, चार अङ्गुल हो तो ३/८ भाग और जब छाया न हो तो आधा दिन बीत गया समझना चाहिए। इसी प्रकार इसके उलटे क्रम से अपराह्ण का मान जान सकते हैं। अथर्व-ज्योतिष के छाया के प्रमाण ये हैं—

मुहूर्त	छाया (अङ्गुलों में)
१	९६
२	६०
३	१२
४	६
५	५
६	४
७	३
८	०

अथर्व-ज्योतिष के दिनच्छाया-सम्बन्धी वर्णन में भी दीक्षितजी ने यह नहीं बतलाया कि ये सम्बन्ध किस दिन के हैं। कौटिल्य ने भी स्पष्ट नहीं कहा है कि उसके दिये प्रमाण किस दिन लागू होते हैं। परन्तु इसी के नीचे इतना कहा है कि आषाढ़ में मध्याह्न के समय छाया शून्य होती है। राजा की दिनचर्या बतलाते हुए दिन के आठ भाग बताये हैं और उन्हें जानने के लिए छाया के प्रमाण दिये हैं। शून्य, चार अङ्गुल और बारह अङ्गुल की छाया का दिनमान-सम्बन्ध वहाँ भी ठीक यही दिया है। हाँ, ९६ और ७२ अङ्गुलों का दिनमान वहाँ न देकर ३६ अङ्गुलों का दिनमान $\frac{1}{8}$ भाग दिया है। इसी प्रकार इसके उलटे क्रम से अपराह्न के भाग जाने जा सकते हैं। इसलिए हम यह अनुमान कर सकते हैं कि उसके दिये दिनच्छाया-सम्बन्धी

मान आषाढ़ के किसी दिन के हैं। इसलिए अथर्व-ज्योतिष के प्रमाणों से कौटिल्य के प्रमाणों की तुलना नहीं की जा सकती और इसलिए निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि उसके दिये प्रमाण ठीक हैं या नहीं। शायद वे दक्षिणायन के प्रारम्भ-दिन अर्थात् सायनकर्कार्क के हों। परन्तु सबके लिए ये किसी काम के नहीं हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो दिन और छाया का सम्बन्ध अक्षांश पर अवलम्बित रहता है। कौटिल्य के दिये प्रमाण से कोई ज्योतिषी (उन्हें दक्षिणायन प्रारम्भ-दिन के प्रमाण मान कर) चाहे तो उनके अक्षांश निकाल सकता है। दूसरे, दिनच्छाया-सम्बन्ध ऋतु पर भी अवलम्बित होते हैं, क्योंकि अक्षांश के अनुसार ही नहीं तो ऋतु के अनुसार भी सूर्य और क्षितिज का अन्तर कम-अधिक होता है। ऋतुमान का छाया से जो सम्बन्ध है वह कौटिल्य को भी ज्ञात था। कौटिल्य कहता है—"आषाढ़ के मास में मध्य दिन के समय छाया शून्य रहती है। आषाढ़ के बाद श्रावण से छः महीने तक दो दो अङ्गुल बढ़ती जाती है। और माघ से दूसरे छः मासों में दो दो अङ्गुल घटती जाती है।" अक्षांश की दृष्टि से छाया के प्रमाण कौटिल्य ने सोचे थे, ऐसा नहीं देख पड़ता। दिन के मध्य-समय शून्य छाया सभी जगह नहीं होती। यह बात केवल क़रीब २३½ उत्तर-अक्षांश और २३½ दक्षिण-अक्षांश के प्रदेश में ठीक है, अन्यत्र नहीं। अन्य दिनों की छाया के

प्रमाणों का अर्थ कैसे लगाया जाय, यह भी स्पष्ट नहीं। इससे कई कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। उन सबके विचार की यहाँ आवश्यकता नहीं। एक कठिनाई का उदाहरण लीजिए। दो दो घटाने बढ़ाने से दिन के मध्यकाल की छाया में भी दो दो घटाना बढ़ाना होगा क्या? ऐसा करने से दिन के मध्यकाल की छाया कभी उत्तर को तो कभी दक्षिण को होगी? परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि २३½ उत्तर-अक्षांश के उत्तर के प्रदेश में मध्याह्न के समय भी छाया सब ऋतुओं में उत्तर की ओर ही पड़ेगी, क्योंकि सूर्य सदैव कम-अधिक दक्षिण की ओर ही रहेगा। सारांश, दिनमान का ज्ञान दिनच्छाया के सम्बन्ध से काम चलाने लायक भी नहीं हो सकता। उसके लिए रोज़ रोज़ घड़ी से मिलान करते रहना होगा।

काल-मान जानने का दूसरा उपाय घटिका है। पुरानी पद्धति के अनुयायी कहीं कहीं उपनयन, विवाहादि कार्यों में उसका उपयोग अब भी किया करते हैं। इसी को कौटिल्य ने नालिका* कहा है। नालिका-काल-मान जानने का प्रमाण कौटिल्य ने यह बतलाया है कि चार मासा सोना लेकर उसका चार अङ्गुल लम्बा तार बनाया जाय, यह तार जितना मोटा हो उतना ही नालिका-पात्र का

---

* इसी को नाडिका भी कहते हैं।

छिद्र हो और एक आढक पानी उसमें से निकलने के लिए जितना समय लगे उतना काल एक नालिका है। यहाँ आढक का प्रमाण बतलाना आवश्यक है। कौटिल्य के अन्यत्र कथन से ऐसा जान पड़ता है कि आढक ५० पल के बराबर है। वेदाङ्गज्योतिष में भी आढक का मान यही दिया है, परन्तु उसमें दीक्षितजी के मत के अनुसार कुछ गड़बड़ भी देख पड़ती है। आगे चल कर एक आढक १९०$_{7}$ पल के बराबर आपने उसी ग्रन्थ से सिद्ध किया है। और फिर आगे आपने यह बतलाया है कि एक पल ४ कर्ष अथवा ४ तोले के बराबर होता है। इस प्रमाण के अनुसार एक आढक पानी ९$\frac{1}{2}$ सेर से भी अधिक होता है। आगे दीक्षितजी कहते हैं, "कालवाचक पल पानीय पल से निकला होगा अर्थात् एक पल पानी पात्र में आने के* लिए जितना समय लगता है उतना एक कालात्मक पल है।" इस अर्थ के पुष्टिकरणार्थ आप यह भी कहते हैं कि कई ज्योतिषग्रन्थों में कालात्मक पल के अर्थ से 'पानीय पल' आया है। इस दृष्टि से वेदाङ्ग-ज्योतिष की नालिका कौटिल्य की नालिका से भिन्न हो जाती है।

---

*कौटिल्य ने पात्र से पानी निकलने की क्रिया का उल्लेख किया है, दीक्षितजी ने पानी के बड़े पात्र में खाली नालिका (अर्थात उसका पात्र) डालने से उसमें पानी घुसने की क्रिया का। काल की दृष्टि से बात एक ही है।

परन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिए। कौटिल्य ने पात्र के छिद्र का प्रमाण दिया है, परन्तु दीक्षितजी के कथनानुसार वेदाङ्ग-ज्योतिष में यह प्रमाण नहीं देख पड़ता। इसलिए यह अनुमान निकलता है कि वेदाङ्ग-ज्योतिष में दिये पात्र का छिद्र बड़ा होना चाहिए। क्योंकि वेदाङ्ग-ज्योतिष और कौटिल्य दोनों ने दो नालिका का एक मुहूर्त और दिन-रात्रि में तीस मुहूर्त बतलाये हैं। इसलिए दोनों की नाडिका का प्रमाण एक ही होना चाहिए। वह आज-कल की भाषा में २४ मिनट निकलता है। फलतः, वेदाङ्ग-ज्योतिष के बड़े पात्र का छिद्र बड़ा ही होना चाहिए। यही नाडिका आगे कभी मापक पात्र के कारण घटिका या घटी या घड़ी कहलाने लगी और आज-कल वह नाम काल-मापक यन्त्रों के अँगरेज़ी नाम का अनुवाद-मात्र हो गया है। घड़ी प्रथम पानी के द्वारा काल-मापक पात्र थी, वह आज-कल कलपुर्ज़ों के द्वारा परिचालित काल-मापक यन्त्र बन गई।

यहाँ थोड़ा विषयान्तर करना पड़ता है। नालिका का उपयोग अर्थ-शास्त्र में कम से कम तीन जगह है। और तीनों स्थानों में काल-मापक योजनाओं का उल्लेख है। हमारी समझ में तीनों स्थानों में नालिका या नाडिका का वही अर्थ है। परन्तु शामशास्त्रीजी ने डाक्टर फ़्लीट का यह मत दिया है कि मूल-ग्रन्थ के १०७ पृष्ठ में नालिका का जो उपयोग हुआ है वह पानीय नालिका के अर्थ से हुआ

है, परन्तु पृष्ठ ३७ में पृष्ठ १३ के अनुसार नालिका से छायानालिका का अर्थ सम्बोधित है। हमारी अल्पमति के अनुसार डाक्टर साहब ने नालिका का यह अर्थ करने में बड़ी भूल की है। पृष्ठ १०७ पर जब स्पष्ट कह दिया गया है कि इतना पानी निकलने को जितना समय लगे उतने समय को नाडिका कहते हैं तब तो डाक्टर साहब ने चुपचाप मान लिया। परन्तु जहाँ इतना स्पष्ट नहीं कहा गया है, वहाँ आपने अपनी गाँठ का अर्थ जोड़ने का प्रयत्न किया है। और हम समझते हैं कि इस भूल के लिए श्रीशामशास्त्रीजी भी बहुत कुछ ज़िम्मेदार हैं। पृष्ठ १३ का वाक्य यह है—"मर्यादां स्थापयेदाचार्यानमात्यान्वा। य एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः, छायानालिकाप्रतोदेन वा रहसि प्रमाद्यन्तमभितुदेयुः।" इसका अनुवाद श्रीयुत शामशास्त्रीजी ने यों किया है—"Those teachers and ministers who keep him from falling a prey to dangers, and who, by striking the hours of the day as determined by measuring shadows (chhāyānālikāpratodena) warn him of his careless proceedings even in secret shall invariably be respected." पृष्ठ ३७ का वाक्य इस प्रकार है—"नालिकाभिरहरष्टधा रात्रिं च विभजेत्। छायाप्रमाणेन वा।" इसका श्रीयुत शामशास्त्री ने अनुवाद किया है—"He shall divide both the day and the night in eight nalikas ($1\frac{1}{2}$ hours),

छाया-द्वारा काल दिन में नापा जा सकता है, रात्रि में नहीं। इसलिए रात्रि के लिए भी कोई योजना चाहिए। और वह उस प्राचीन काल में नाडिका ही थी। फिर वह क्योंकर छाया-मापक दण्ड हो सकता है? वह पानीय पात्र ही होना चाहिए। पृष्ठ ३७ पर राजा की दिन-रात्रि-चर्या बतलाई है। इसलिए दिवस के आठ भागों के छाया प्रमाण वहाँ दिये हैं, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर ही चुके हैं। परन्तु रात्रि-चर्या का नियन्त्रण कैसे हो? उसका उत्तर वही है अर्थात् नालिका के द्वारा। सारांश, नालिका पानीय पात्र थी, छाया-दण्ड नहीं। फिर ऐसे विद्वानों ने यह भूल कैसे की? इसके दो उत्तर देख पड़ते हैं। पृष्ठ १३ पर 'छायानालिकाप्रतोदेन' कहा है। 'प्रतोद' के अर्थ ने शायद उन्हें गड़बड़ में डाल दिया हो। श्रीआपटे इस शब्द का अर्थ 'अङ्कुश' वग़ैर: (Goad, long whip, pricking instrument) करते हैं। इस शब्द का अन्यत्र कुछ भी अर्थ हो, परन्तु यहाँ यह केवल अलङ्कारिक अर्थ में आया है, शाब्दिक अर्थ में नहीं। शाब्दिक अर्थ स्वीकार करने से यह भी स्वीकार करना होगा कि आचार्य और अमात्य 'छायानलिकाप्रतोद से' राजा को टोंचा करें। परन्तु यह अर्थ बहुत भद्दा हो जाता है—राजा, अमात्य, आचार्य के लिए ऐसी बात चाणक्य न बतलाएगा। इसलिए 'प्रतोद' को यहाँ केवल अलङ्कारिक मानना चाहिए और अर्थ करना चाहिए 'छाया नालिका

के (काल-दर्शक) अङ्कुश-द्वारा उसे उसके कार्यों का ख़याल दिलाते रहें' अर्थात् उसको बतलाते रहें कि अभी यह काम करने का समय है, फिर यह काम करना होगा, आदि। शायद 'प्रतोदेन' के एक वचन ने उक्त विद्वानों को गड़बड़ में डाल दिया हो। दो वस्तुओं के कारण द्विवचन होना चाहिए और यहाँ तो एकवचन है! फलतः छाया-नालिका से एक ही वस्तु का बोध होता है! परन्तु हमारी समझ में प्रतोद शब्द को द्विवचन में रखने की आवश्यकता यहाँ प्रतीत नहीं होती। क्या दो एकवचनी शब्दों का षष्ठी-तत्पुरुष समास तीसरे एकवचनी शब्द से नहीं हो सकता? यदि हो सकता है तो छाया-नालिका को दो वस्तु मानने में कौन सी बाधा है? परन्तु शास्त्रीजी ने इस सामासिक शब्द से एक ही वस्तु का अर्थ लिया और 'छायानाडिका' एक नई वस्तु आपने बना डाली। इसी अर्थ को डाक्टर साहब ने स्वीकार कर लिया, फिर पृष्ठ ३७ के शब्दों से और भी गड़-बड़ा गये और नालिका को आपने डेढ़ घण्टे का बना डाला। 'नालिकाभिरहरष्टधा रात्रिं च विभजेत्। छायाप्रमाणेन वा।' इस वाक्य के बाद पूर्वाह्न के काल-मापक चार छाया-प्रमाण दिये हैं। इसलिए नालिका के द्वारा भी दिन या रात्रि के आठ भाग होते होंगे! दिन और रात्रि को कौटिल्य ने (विषुवदिन के अनुसार) बराबर माना है, इसलिए नाडिका १॥ घण्टे की होनी ही चाहिए! और पृष्ठ १०७

की नाडिका तो २४ मिनट के बराबर बताई है, इसलिए पृष्ठ ३७ की नाडिका कोई और नाडिका है और वह (श्रीशामशास्त्रीजी के अर्थ के अनुसार) पृष्ठ १३ की नाडिका ही होनी चाहिए ! इसलिए 'नाडिकाभिः......विभजेत्' का अर्थ 'नाडिकाओं में बाँटना चाहिए' ही होना चाहिए ! यानी नाडिका डेढ़ घण्टे की होती है ! इन शब्दों का अर्थ 'नाडिकाओं-द्वारा विभाजित होना चाहिए' ऐसा करने से फ्लीट साहब को एक बड़ी भारी आपत्ति उपस्थित होती है। आपकी कठिनाई आपही के शब्दों में सुन लीजिए—

"The passage on text p. 37 is an interesting one. The king is directed to divide the day-time and the night into eight (equal) parts by the nālikās or by the measure of the shadow (of a gnomon). The text then states the shadow-lengths which give the eight divisions. That is all right for the day-time. But what about the night, when the gnomon gives no shadow? Are the divisions to be reckoned at night by the náliká of 24 minutes, which is referred to at the bottom of p. 107? That would be rather difficult, because one-eighth of the day-time or of the night =90 minutes, $3\frac{3}{4}$ nálikás: and how are $\frac{3}{4}$ of a náliká to be marked by the water bowl? I am inclined to think that the nālikā of p. 37 has nothing to do with the

náliká of p. 107, and that its full name is chháyá-náliká, which occurs on p. 13, line 2. This period of 90 minutes is, as far as I know, quite an exceptional Indian division of time, and the more remarkable because it is not commensurable without fractions, with either the nālikā as usually known or the Muhurta."
साहब बहादुर ने पृष्ठ १३ के वाक्य के श्रीशामशास्त्रीजी के अनुवाद को ठीक मान लिया और उसका सहारा पृष्ठ ३७ के वाक्य के अर्थ के लिए लिया। परन्तु जब पहले स्थान में ही भूल हुई तब दूसरे स्थान में भी होनी चाहिए। पृष्ठ ३७ पर नालिका का अर्थ करते समय मुख्य अड़चन यह उपस्थित हुई कि नालिका-द्वारा तो दिन या रात्रि के अष्टमांश के पूरे पूरे हिस्से होते नहीं, तीन पूर्णाङ्क और तीन चतुर्थांश निकलते हैं, तीन चतुर्थांश किसी पानीय पात्र-द्वारा किस प्रकार नापे जायँ। यह नाडिका इसलिए दिन या रात्रि के अष्टमांश को पूरे पूरे हिस्से में ही विभाजित करती होगी यानी वह डेढ़ घण्टे की ही होनी चाहिए। परन्तु क्या हम पूछ सकते हैं कि कौटिल्य ने किस आधार पर 'त्रुटि, लव, निमेष, काष्ठा, कला' का मान दिया होगा? क्या उसी के अनुसार $\frac{3}{4}$ नाडिका यानी ३० कला नहीं बतला सकते? क्या आज-कल भी भिन्न भिन्न रूपों के पात्रों में चिह्नों-द्वारा भिन्न भिन्न माप नहीं दिखला सकते? विज्ञान-युग के विद्वान्

को तो यह कठिनाई न उपस्थित होनी चाहिए। रही यह बात कि ऐसा मानने से भारतीयों को इच्छा से अधिक सभ्य मानना पड़ता है, तो इसके लिए हमारे पास कोई उपाय नहीं। जब यही बात कि 'तुम लाख कहो, हम एक न मानेंगे' तब कहनेवाला क्या कर सकता है ? परन्तु हमारी समझ में पृष्ठ १३ और ३७ और १०७ में नालिका का वही एक अर्थ है, पानी के द्वारा काल-मापक पात्र और जिसमें एक आढक पानी कौटिल्य के दिये विशिष्ट छिद्र के बराबर छिद्र से निकले वह काल। इस विषयान्तर को यहीं समाप्त कर अब हम पुनः कौटिल्य के काल-मान का वर्णन करते हैं।

ऋतु के अनुसार घटती-बढ़ती छाया का (ऊपर एक स्थान पर दिया हुआ) प्रमाण बताने पर कौटिल्य कहता है—'पन्द्रह दिन-रात्रि का एक पक्ष होता है। जिस पक्ष में चन्द्र की कलायें बढ़ती हैं वह शुक्ल कहलाता है, जिस पक्ष में चन्द्र की कलायें घटती हैं वह बहुल कहलाता है।' 'कृष्ण' के स्थान पर यहाँ बहुल शब्द आया है। आगे आप कहते हैं, "दो पक्ष का एक मास होता है। ३० दिन-रात्रि का प्रकर्म मास कर्मचारियों का मास) होता है। साढ़े तीस दिन-रात्रि का एक सौरमास होता है। साढ़े उनतीस दिन का चान्द्रमास होता है। सत्ताईस दिन का नाक्षत्रमास होता है। बत्तीस मास में एक मलमास होता है। अश्ववाहों का (मलमास) पैंतीस महीनों में होता है और हस्तिवाहों

का मलमास चालीस महीनों में होता है।" अब यह देखना है कि प्राचीन समय की अथवा आज-कल की बातों से ये काल-मान कहाँ तक मिलते-जुलते हैं।

आज-कल भी लोग साधारणतः, यानी विशिष्ट शास्त्रोक्त प्रसङ्गों को छोड़ कर, पक्ष पन्द्रह दिन और मास तीस दिन का मानते हैं। हाँ, अँगरेज़ी मासों के कारण आज-कल कभी कभी, और विशेषतः सरकार से सम्बन्ध रखनेवाले काम-काजों में, मास ३१ दिन का तो कभी क्वचित् २८ या २९ दिन का भी मानना पड़ता है। तथापि लोगों की साधारण समझ यही है कि मास तीस दिन का होता है। शुक्ल और कृष्ण पक्षों के विषय में कोई नई बात नहीं। 'कृष्ण' के लिए केवल एक भिन्न शब्द 'बहुल' आया है। दूसरों ने भी कभी कभी इस शब्द का इस अर्थ में उपयोग किया है। आज-कल नाक्षत्रमास २७ दिन ७ घण्टे ४३ मिनट ११.४६१ सेकण्ड* का होता है, यानी, मोटी तरह से, २७ दिन ७$\frac{3}{4}$ घण्टे अथवा २७$\frac{1}{3}$ दिन का होता है। इसलिए यह कह सकते हैं कि मोटी तरह से कौटिल्य का दिया नक्षत्रमास आज-कल के नक्षत्र-मास से मिलता-जुलता है। चान्द्रमास तो आज-कल के चान्द्रमास से और अधिक मिलता है। यदि कौटिल्य ने उसका मान २९$\frac{1}{2}$ दिन बतलाया है तो आज-कल भी वह २९ दिन १२

* ये अङ्क Godfrey कृत A Treatise on Astronomy से लिये हैं।

घण्टे ४४ मिनट २.८७ सेकण्ड का है। यानी दोनों में बहुत ही कम अन्तर है। और जिस समय आज-कल के भौतिक-शास्त्र और सूक्ष्म यन्त्र न थे उस समय इतनी भूल हुई ही तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर यह स्मरण रखना चाहिए कि 'अर्थ-शास्त्र' कुछ ज्योतिःशास्त्र नहीं। राज्यशासन के लिए जितने ज्योतिष की आवश्यकता होती है उतना ही बतलाने का उसका हेतु है। इसलिए सूक्ष्म बातों को 'अर्थ-शास्त्र' में बतलाने की आवश्यकता वह न समझता रहा हो। सौरमास ३०½ दिन का यहाँ बताया है। इससे सौरवर्ष ३६६ दिन का निकलता है। वेदाङ्ग-ज्योतिष में भी सौरमास ३०½ दिन का और सौरवर्ष ३६६ दिन का ही बताया है। इतना ही नहीं, कौटिल्य का युगमान वेदाङ्ग-ज्योतिष के युगमान से ठीक मिलता है। कौटिल्य और वेदाङ्ग-ज्योतिष दोनों युग को पाँच वर्ष का यानी १८३० दिन का बताते हैं। अपने यहाँ बहुधा सब जगह चान्द्रमास चलते रहे और अब भी चलते हैं। चान्द्रमास के अनुसार वर्ष ३५४ दिन का होता है। वेदाङ्ग-ज्योतिष में बताया गया है कि एक युग में दो अधिक मास या मलमास जोड़ने चाहिए। यानी पाँच चान्द्र वर्ष (३५४ + ५) + ६० दिन = १८३० दिन = ३६६ + ५ = पाँच सौरवर्ष के हो जाते हैं। इस प्रकार चान्द्रमान सौरमान के बराबर कर लिया जाता था। यही बात कौटिल्य ने भी कही है। उसने पहले केवल यही कहा

है कि बत्तीस महीनों में एक मलमास होता है। इस तरह की गणना भी एक बार प्रारम्भ कर ली जाय तो प्रत्येक युग में दो मलमास ज़रूर आयेंगे और इस प्रकार चान्द्रमान सौरमान के बराबर हो जायगा। आगे चलकर यही बात कौटिल्य ने स्पष्टतया कह डाली है—

> दिवसस्य हरत्यर्कः षष्टिभागमृतौ ततः।
> करोत्येकमहश्छेदं तथैवैकं च चन्द्रमाः॥

प्रति दिन सूर्य (दिन का) साठवाँ भाग हरता है और इस प्रकार एक ऋतु में एक दिन बनाता है। एक ऋतु में मोटी रीति से ६० दिन होते हैं, परन्तु एक दिन बढ़ जाता है, यानी वास्तव में ६१ दिन होते हैं और वर्ष में ६ ऋतु होते हैं। इस तरह वर्ष में ३६६ दिन हुए। चन्द्रमा एक ऋतु में एक दिन कम करता है। इस प्रकार एक ऋतु ५९ दिन का और एक वर्ष ३५४ दिन का होगा। इन्हें बराबर करने के लिए कौटिल्य ने आगे कहा है—

> एवमर्धतृतीयानामब्दानामधिमासकम्।
> ग्रीष्मे जनयतः पूर्वं पञ्चाब्दान्ते च पश्चिमम्॥

यहाँ टीकाकार ने 'अर्धतृतीयानामब्दानाम्' का अर्थ ठीक ३० महीने लिया है। ऐसा अर्थ करने से मलमास यानी अधिक मास तीस तीस महीने में आता है और वह कौटिल्य के ऊपर के एक कथन से असङ्गत है। तथापि इतना मानना होगा कि वेदाङ्ग-ज्योतिष के निम्न श्लोक से कौटिल्य का कहना

बहुत ठीक मिलता है। अथवा यों कहो कि कौटिल्य ने निम्न-लिखित श्लोक के भाव को ही अपनी भाषा में दो श्लोकों में रख दिया है—

> ऊनं द्विषष्टिभागेन हेयं सूर्यात् सपार्वणम्।
> यत्कृतावुपजायेते मध्ये चान्ते चाधिमासकौ॥

यह हमें बतला देना चाहिए कि दीक्षितजी के मत के अनुसार यह तीस मास का काल जल्द ही बदल कर ३२ मास का होगया। अर्थात् वेदाङ्ग-ज्योतिष के थोड़े काल बाद अधिक मास ३२ मास पश्चात् माना जाने लगा। ज्योतिषी लोग यह जान सकते हैं कि कौटिल्य 'मध्यम रवि' का पूरा ज्ञान रखता था। अब कोई कहे कि सौरवर्ष ३६६ दिन का नहीं होता, वह तो आज-कल ३६५ दिन ५$\frac{3}{4}$ घण्टे का होता है। इस पर दीक्षितजी के मत के अनुसार यह उत्तर दिया जा सकता है कि वर्षमान धीरे धीरे कम हो रहा है। कोई आश्चर्य नहीं कि उतने पुराने समय में वर्ष-मान ३६६ दिन का ही रहा हो। अब रही तीन प्रकार के मलमासों की बात। डाक्टर फ्लीट इनके विषय में कहते हैं, "I retain my opinion that *Malamasa* is a corrupt reading for *Mallamasa*, and that the passage means that wrestlers were hired by a month of 32 days, horse-carriages by a month of 35 days and elephant-carriages by a month of 40 days."

जान पड़ता है कि डाक्टर साहब मौलिकता के खूब शौक़ीन हैं। इसलिए आप कुछ न कुछ ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करते से देख पड़ते हैं। 'मलमास' का आपने जो अर्थ किया है वह हमें ठीक नहीं जँचता। 'मलमास' शब्द की इतनी खींचातान करने की कोई आवश्यकता नहीं। वह 'मल' और 'मास' से बना है। मल का अर्थ अपवित्र भी होता है। जिस मास में धार्मिक कार्य बन्द रहते हैं वह मलमास है। यही अर्थ श्री आपटे ने अपने कोश में दिया है—मल-मास—an intercalary month (so called because during that month religious ceremonies are not performed). डाक्टर साहब को यह अर्थ सूझने के कारण 'पञ्चत्रिंशदश्ववाहायाः' और 'चत्वारिंशद्धस्तिवाहायाः' ये दो वाक्य हुए हों; क्योंकि आपने इन दोनों वाक्यों का अर्थ भी हमारी समझ में कुछ और ही किया है। ३५ दिन के और ४० दिन के महीने कभी नहीं सुने गये। हिन्दुस्थान में ऐसी कोई बात कभी नहीं प्रचलित थी, न दीक्षितजी को कहीं देख ही पड़ी। एक बात अलबत्ता दीक्षितजी बतलाते हैं कि कभी कहीं अधिक मास २८ महीनों में होता था तो कभी कहीं ३५ महीनों में। यह सम्भव है कि कौटिल्य के समय में कहीं ४० महीनों में मलमास रहा हो। सम्भव है कि हस्तिवाहा और अश्ववाहा लोक-विशेष अथवा जाति-विशेष के नाम रहे हों और उनमें मलमास की गणना भिन्न

पद्धति के अनुसार की जाती हो। घोड़ों की गाड़ियाँ तो थीं और हैं, परन्तु हाथियों की गाड़ियों का न तो कौटिल्य के ग्रन्थ में कहीं उल्लेख है, न वे कहीं सुनने में आई हैं। इसलिए डाक्टर साहब का अर्थ अग्राह्य जान पड़ता है। आपने इतिहास और प्रचलित बातों की ओर ध्यान नहीं दिया, इसलिए कुछ का कुछ अर्थ आप कर बैठे हैं। अस्तु।

मलमासों के वर्णन के बाद कौटिल्य ने बतलाया है कि एक ऋतु में दो मास होते हैं। श्रावण और प्रौष्ठपद (भाद्रपद) वर्षा के मास, अश्वयुज (आश्विन) और कार्तिक शरद् के, मार्गशीर्ष और पौष हेमन्त के, माघ और फाल्गुन शिशिर के, चैत्र और वैशाख वसन्त के और ज्येष्ठामूलीय (ज्येष्ठ) और आषाढ़ ग्रीष्म के मास हैं। शिशिर से उत्तरायण और वर्षा से दक्षिणायन प्रारम्भ होते हैं। (ये) दो अयन मिल कर संवत्सर होता है। अब हम इन बातों का विचार करेंगे।

वेदाङ्ग-ज्योतिष से ये सब बातें मिलती हैं। उसमें भी भिन्न भिन्न ऋतुओं के येही नाम हैं और उनके मास भी वही हैं। वहाँ भी कहा है कि माघ और श्रावण में सूर्य क्रम से उत्तर और दक्षिण को घूमता है। प्रपद्यते श्रविष्ठादौ सूर्यचान्द्रमसावुदक्। सार्पार्द्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा॥ अर्थात् कौटिल्य और वेदाङ्ग-ज्योतिष के अयन-काल बिलकुल एक हैं। यह कोई भी देख सकता है कि तब से अब तक

अयन-काल में बड़ा अन्तर पड़ गया है। कौटिल्य के समय में विषुव चैत्र और आश्विन में पड़ते थे और उत्तरायण और दक्षिणायन माघ और श्रावण में। अब वे उन महीनों में नहीं आते। बहुत कुछ पीछे हट गये हैं। कौटिल्य के समय को अब तक क़रीब २,२५० वर्ष बीत गये। अयनगति का मान क़रीब ५० विकला पीछे की ओर है। इस हिसाब से अब अयन-काल में क़रीब ३२ दिन का अन्तर होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि कौटिल्य के मास अमान्त हैं या पूर्णिमान्त। दो जगह के उल्लेखों से यह जान पड़ता है कि वर्ष (कम से कम सरकारी वर्ष) श्रावण से अर्थात् वर्षा के प्रारम्भ से शुरू होता था। पहले अधिकरण के ७ वें अध्याय में कहा है—'गाणनिक्यान्याषाढीमागच्छेयुः'—अर्थात् हिसाब-किताबवाले अपना हिसाब-किताब आषाढ़ में लेकर आवें। इसी प्रकार इसके कुछ ही आगे कहा है—त्रिशतं चतुःपञ्चाशच्चाहोरात्राणां कर्म संवत्सरः। तमाषाढीपर्यवसानमूनं पूर्णं वा दद्यात्। कर्मचारियों का वर्ष ३५४ दिन का बतलाया तो है ही, परन्तु यह भी कह दिया है कि काम की मजूरी काम देख कर आषाढ़ के अन्त में दे देनी चाहिए। इससे ऊपर दिये हमारे दो कथनों की पुष्टि होती है, अर्थात् साधारणतः वर्ष चान्द्र था, परन्तु अधिक मासद्वारा उसका मिलान सौरवर्ष से कर लिया जाता था और आषाढ़ के बाद अर्थात् श्रावण से नया वर्ष शुरू होता था। परन्तु इससे भी यह निश्चय नहीं होता

कि मास अमान्त थे या पूर्णिमान्त। और हमें जहाँ तक स्मरण है पुस्तक में इस बात का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष निर्देश भी नहीं है। इसलिए हमारा सारा दारमदार गणित पर है। यदि अमान्त मान कर माघ शुक्ल प्रतिपदा से ३२ दिन घटाते हैं तो अब उत्तरायण का दिन (अमान्त) मार्गशीर्ष वद्य १४ होता है। पूर्णिमान्त मान कर माघशुक्ल प्रतिपदा से ३२ दिन घटाते हैं तो मार्गशीर्ष शुक्ल १४ का दिन अब निकलता है। इस साल (सन् १९२४ ई०) के मराठी पञ्चाङ्ग में सायन-उत्तरायण का दिन मार्गशीर्ष शुक्ल १४ ही है। इससे कोई कहेगा कि कौटिल्य पूर्णिमान्त मास मानता था। परन्तु हमारी समझ में यह अनुमान सर्वथा ठीक न होगा। कौटिल्य कुछ वेध लेनेवाला ज्योतिषी न था। उसने वेध नहीं लिये, यह समझ पड़ता है। वह तो सब शास्त्र सीखा हुआ विद्वान् था। जब उसके ज्योतिर्ज्ञान की अनेक बातें वेदाङ्ग-ज्योतिष से मिलती हैं तब इसी एक बात में वह क्योंकर वेदाङ्ग-ज्योतिष से भिन्न बात कर सकता है। वेदाङ्ग-ज्योतिष में उसने जो पढ़ा था उसी की बहुतेरी बातें उसने अपने ग्रन्थ में दी हैं, यह हमारा मत है। अर्थात् वेदाङ्गज्योतिष के वेध उसके समय में ही इतने पुराने थे कि नक्षत्रों और ऋतुओं में यथेष्ट अन्तर पड़ गया था। वराहमिहिर के समय में अयनस्थान पहले से २३-२४ अंश पीछे हट गया था। चाणक्य के ग्रन्थ का

काल ३२० ईसा-पूर्व होना चाहिए। अर्थात् चाणक्य और वराहमिहिर के काल में आठ सौ से अधिक वर्षों का अन्तर है, अर्थात् इन दोनों के कालों के बीच अयनबिन्दु क़रीब १२ अंश पीछे हट गया था। इसलिए वेदाङ्ग-ज्योतिष से चाणक्य के समय में अयन क़रीब १२ अंश ज़रूर पीछे हट गया होगा। अर्थात् वेदाङ्ग-ज्योतिष का काल ईसा पूर्व बारहवीं शताब्दी के क़रीब निकलता है। इन दो कालों के ऋतुओं में क़रीब १२ दिन का अन्तर पड़ गया होगा। चाणक्य के ही एक दो वाक्यों से यह बात सिद्ध होती देख पड़ती है। नावध्यक्ष के कार्यों को बतलाते हुए उसने कहा है—

सप्ताहवृत्तामाषाढीं कार्तिकीं चान्तरातरः।

आषाढ़ के पहले सात दिन बीतने पर नावों का चलाना प्रारम्भ हो जाय। हम सात-आठ दिन और छोड़ देकर यह कह सकते हैं कि चाणक्य के समय में वास्तविक वर्षा आषाढ़ के बीच प्रारम्भ हो जाती रही होगी। यही बात और एक वाक्य से सिद्ध होती है। उसने कहा है—'आषाढ़े मासि नष्टच्छायो मध्याह्ने भवति'—आषाढ़मास में मध्याह्न के समय छाया नष्ट हो जाती है। इसका अर्थ यही कि आषाढ़-मास में मध्याह्न के समय छाया पूर्व-पश्चिम*

*हम ऊपर कह आये हैं कि मगध-प्रान्त में इस समय भी उत्तर-दक्षिण छाया बनी रहेगी।

नहीं रहती। अर्थात् वास्तविक दक्षिणायन, श्रावण से नहीं तो, आषाढ़ में कौटिल्य के समय प्रारम्भ होता था। अर्थात् वास्तविक ऋतुओं का प्रारम्भ क़रीब १५ दिन पहले ही होता था। चाणक्य के दिये ऋतुमास ग्रन्थमूलक (हमारे मत के अनुसार वेदाङ्ग-ज्योतिष से लिये) हैं, वेधमूलक नहीं। वेदाङ्ग-ज्योतिष में मास अमान्त बतलाये हैं। इसलिए कौटिल्य के भी मास अमान्त ही होने चाहिए। वेध लेनेवाला ज्योतिषी न होने के कारण उसने ग्रन्थ के पढ़े हुए ही ऋतुमास रख दिये, उनमें आवश्यक परिवर्तन करके उन्हें न लिखा।

इन बातों से कुछ ऐतिहासिक बातों का निर्णय हो सकता है। उदाहरणार्थ, कालिदास के काल के विषय में अभी कोई एक-मत नहीं हुआ है। "सरस्वती" भाग २५ में मराठी के दो लेखकों के इस विषय के लेख का अनुवाद तीन अङ्कों में छपा है। वहाँ लेखकों ने मेघदूत के आधार पर कहा है कि कालिदास के समय में वर्षाऋतु का प्रारम्भ आषाढ़ के प्रारम्भ में होता था। उन्होंने यह भी कहा है कालिदास मासों को अमान्त मानता था। कई प्रमाणों से उन्होंने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह महाकवि छठी शताब्दी में हुआ। इस बात को कौटिल्य के ग्रन्थ से पुष्टि मिलती है। जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं कि वास्तविक दक्षिणायन कौटिल्य के समय में आधे आषाढ़ के लगभग होना चाहिए और इस समय से वास्तविक वर्षाकाल प्रारम्भ

होता रहा होगा। कालिदास के समय में वास्तविक दक्षिणायन और वर्षाकाल यदि आषाढ़ के प्रारम्भ में होते रहे तो कौटिल्य और कालिदास के कालों में दक्षिणायन में क़रीब १२ दिन का अन्तर ज़रूर पड़ गया होगा। इससे यह अनुमान निकलता है कि इन दोनों के कालों का अन्तर क़रीब ८५० वर्ष का ज़रूर रहा होगा। अर्थात् कालिदास ईसा की छठी शताब्दी में था। वेदाङ्ग-ज्योतिष के समय का अनुमान हम ऊपर कर ही चुके हैं। उसे बारहवीं शताब्दी से इस ओर नहीं होना चाहिए। श्रीशङ्कर बालकृष्ण दीक्षित कहते हैं कि वेदाङ्ग-ज्योतिष का काल 'सामान्यतः ईसापूर्व १,४०० वर्ष मानना चाहिए।' आगे आप बतलाते हैं कि कुछ पाश्चात्य पण्डित इस काल को यथा-शक्य इसी ओर खींचना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, मैक्समूलर साहब उसे ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में रखना चाहते हैं तो वेबर साहब ईसा पश्चात् पाँचवीं शताब्दी में। परन्तु जब कौटिल्य ने वेदाङ्ग-ज्योतिष से मिलती-जुलती अनेक बातें दी हैं तो उसका काल कौटिल्य के काल के इस ओर क्योंकर खींचा जा सकता है? कौटिल्य के अनेक कथनों को पढ़कर अब तो कोई भी पण्डित ऐसा करने का साहस न करेगा। यह काल इस तरह भी सिद्ध हो सकता है। उस समय वर्षा का प्रारम्भ (अमान्त) श्रावण से होता था, आज-कल आधे

(अमान्त) ज्येष्ठ से होता है । यानी तब से अब तक क़रीब ४५ दिन का अन्तर पड़ गया है। इतना अन्तर होने के लिए क़रीब ३,२०० वर्ष चाहिए । इसे अधिक ठीक करने के लिए क़रीब १०० वर्ष इसमें छोड़ दें तो भी ३,१०० वर्ष के क़रीब अन्तर निकलता है । अर्थात् वह काल ईसापूर्व क़रीब १,२०० वर्ष या इससे कुछ ही कम निकलता है। अर्थात् हमारी समझ में वह बारहवीं सदी ज़रूर है ।

कौटिल्य के काल के विषय में तो कोई शङ्का रह ही नहीं सकती । ऊपर हम दिखला ही चुके हैं कि दक्षिणायन की दृष्टि से कौटिल्य से अब तक कम से कम एक मास का अन्तर ज़रूर पड़ गया है । यदि इस अन्तर को पूरे तीस दिन ही मानें तो कौटिल्य से अब तक क़रीब २,१३२ वर्ष निकलते हैं। वास्तव में अयनबिन्दु का तब से अन्तर ३० दिन से अधिक हुआ है । केवल १॥ या १॥। दिन अधिक मानने से कौटिल्य का ठीक काल निकलता है । वास्तव में इसकी कोई ज़रूरत है नहीं, क्योंकि कौटिल्य का काल अन्य रीति से बिलकुल निश्चित है । यह हमने यही दिखलाने के लिए बतलाया है कि तब से अयनबिन्दु में बहुत अन्तर पड़ गया है, और यह अन्तर कौटिल्य के समय में वेदाङ्ग-ज्योतिष का अमान्त मास मानने से ही समझाया जा सकता है ।

परिशिष्ट ३ रा

कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में साहित्य-शास्त्र का दिग्दर्शन

अर्वाचीन काल में साहित्य-शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ बने हैं। उनमें साहित्य-शास्त्र के भिन्न भिन्न अङ्गों की अच्छी विवेचना की गई है। यह विवेचना प्रायः पूर्ण है। संस्कृत में भी इन विषयों पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। इसके विषय में अब किसी को कुछ बतलाने की आवश्यकता नहीं है। तथापि यदि हमें कहीं लेखन-शास्त्र का बहुत प्राचीन विवेचन देखने को मिले तो कुछ आश्चर्य और कौतूहल अवश्य होता है। जब हमने देखा कि कौटिल्य ने अपने 'अर्थ-शास्त्र' में साहित्य शास्त्र का दिग्दर्शन कराया है तब यही भाव हमारे चित्त में जागृत हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि 'अर्थ-शास्त्र' में इस विषय का कोई सुसम्बद्ध विवेचन नहीं है इस ग्रन्थ में लेखन-शास्त्र के कुछ शब्दों का अर्थ-मात्र दिया गया है। परन्तु इन शब्दों से ही यह प्रकट हो जाता है कि प्राचीन भारतवर्ष में लेखन-शास्त्र की विवेचना कितनी आवश्यक समझी जाती थी।

कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र के दूसरे अधिकरण के दसवें अध्याय में साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी कुछ बातों पर विचार किया है। इसमें विशेषकर कुछ व्याकरण के और कुछ लेख-रचना के

नियम बतलाये गये हैं। राजाज्ञा निकालने के सम्बन्ध में इनके बतलाने की आवश्यकता हुई। राजाज्ञा लिखने के लिए कुछ नियम होने चाहिए, जिनसे उनका अभीष्ट भाव प्रकट हो। इसी कारण कौटिल्य को इस अध्याय में रचना और व्याकरण के कुछ नियमों का उल्लेख करना पड़ा।

राजाज्ञापत्र के लि कौटिल्य ने 'शासन' शब्द का उपयोग किया है। राज्य-शासन के लिए जिनकी आवश्यकता होती है वे 'शासन' कहलाते हैं। इनका महत्त्व बड़ा भारी है, क्योंकि 'सन्धि' और 'युद्ध' इन्हीं पर अवलम्बित हैं, इसलिए 'लेखकों' की आवश्यकता होती है। लेखक के पद पर उन्हीं को नियुक्त करना चाहिए जिन्हें स्पष्ट अक्षर लिखना आता हो, जो अच्छी रचना कर सकते हों और जो पढ़ने में निपुण हों। ऐसे लेखक को चाहिए कि वह पहले सावधान होकर राजाज्ञा को सुन ले और फिर जो कुछ लिखना है उस पर अच्छी तरह विचार कर ले। इसके बाद वह उस आज्ञा को लिपिबद्ध करे।

अर्थक्रम, सम्बन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य और स्पष्टत्व लेख के गुण (सम्पत्) हैं। महत्त्व के क्रम के अनुसार लेख की बातें लिखने को 'अर्थक्रम' कहते हैं। यदि किसी लेख में पूर्व बतलाई बात से तदनन्तर बतलाई बात का कहीं विरोध न हो तो उसमें 'सम्बन्ध' है। यदि किसी लेख में अक्षर

या शब्दों की कमी न हों या अनावश्यक अक्षर या शब्द न हों; यदि कारण, उदाहरण और दृष्टान्त-द्वारा लिखी हुई बातों का अर्थ स्पष्ट हो और यदि उचित और अच्छे ज़ोरदार शब्दों का उपयोग किया गया हो तो उस लेख में 'परिपूर्णता' का गुण है। यदि किसी अच्छी बात का वर्णन मनोहर रीति से किया जाय जिससे मन को आनन्द हो तो यह कहा जायगा कि उसमें 'माधुर्य' गुण है। यदि लेख में ग्राम्य शब्दों का उपयोग नहीं किया गया है तो उसमें 'औदार्य' है। साधारणतः लोग जिन शब्दों का उपयोग करते हैं यदि उनका प्रयोग किया जाय तो लेख में 'स्पष्टत्व' का गुण देख पड़ेगा।

इसके बाद कौटिल्य ने व्याकरण की कुछ बातें कहीं हैं, फिर लेख के पाँच दोष बतलाये हैं। (१) अकान्ति, (२) व्याघात, (३) पुनरुक्ति, (४) अपशब्द और (५) सम्प्लव। यदि पत्र (कागज़) साफ़ न हो और अक्षर भद्दे हों, ठीक सीधी लकीरों में न लिखा गया हो और अक्षर अच्छे साफ़ साफ़ न देख पड़ें तो उसमें 'अकान्ति' (कान्तिहीनता) का दोष है। यदि लेख के पिछले भाग का अगले भाग से (अर्थ की दृष्टि से) विरोध हो तो 'व्याघात' होता है। जो कुछ पहले एक बार कहा जा चुका है उसे फिर से कहने से 'पुन-रुक्ति' का दोष होता है। यदि लिङ्ग, वचन, कारक और काल का अशुद्ध प्रयोग किया जाय तो 'अपशब्द' का दोष उत्पन्न

होगा। जहाँ 'वर्ग'* नहीं करना चाहिए वहाँ 'वर्ग' किया जाय या जहाँ वह आवश्यक है वहाँ उसका परिहार किया गया हो और लेख के जो अन्य आवश्यक गुण हैं उनका अभाव हो तो लेख में 'सम्प्लव' का दोष होगा।

कौटिल्य ने लेख के जो गुण-दोष बतलाये हैं उनके नाम आज हम भिन्न भले ही रक्खें, परन्तु उन्हें हम भी गुण-दोष कहेंगे। इनके उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है।

इसके बाद कौटिल्य ने पन्द्रहवें अधिकरण में लेख के अनेक भागों तथा अपने भावों को प्रकट करने की रीतियों का विवेचन किया है। बेहतर होता यदि एक ही स्थान में इन दो भागों का सुसम्बद्ध विवेचन रहता। परन्तु कौटिल्य ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने इस प्रकरण में बत्तीस शब्दों का अर्थ समझाया है। वे शब्द ये हैं:—अधिकरण, विधान, योग, पदार्थ, हेत्वर्थ, उद्देश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, अतिदेश, प्रदेश, उपमान, अर्थापत्ति, संशय, प्रसङ्ग, विपर्यय, वाक्यशेष, अनुमत, व्याख्यान, निर्वचन, निदर्शन, अपवर्ग, स्वसंज्ञा,

---

* जिनको हम अँगरेज़ी में पैरेग्राफ़, सेक्शन या आर्टिकल कहते हैं और हिन्दुस्थानी भाषाओं में लेखांश, लेख-खण्ड आदि कहते हैं उसी को, जान पड़ता है, कौटिल्य ने 'वर्ग' कहा है। परन्तु हमें इस बात की शङ्का है कि इस अर्थ में अब इस शब्द का उपयोग हो सकेगा या नहीं। इसका अधिक विचार आगे किया गया है।

पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, एकान्त, अनागतावेक्षण, अतिक्रान्तावेक्षण, नियोग, विकल्प, समुच्चय और ऊह्य।

किसी ग्रन्थ में जिस विषय का विवेचन रहता है उसके कुछ मुख्य भाग हो सकते हैं। इनको हम उपविषय कहेंगे। पुस्तक के जिन भिन्न भिन्न भागों में इन उपविषयों का विवेचन रहता है उन्हें 'अधिकरण' कहते हैं। इन्हें अँगरेज़ी में बुक (book), पार्ट (part) या कभी कभी वाल्यूम (volume) भी कहते हैं। 'अर्थ-शास्त्र' में इस प्रकार के पन्द्रह 'अधिकरण' हैं। इनको हिन्दी में लोग बहुधा 'भाग' कहते हैं। विवेचन की सरलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक होता है कि पूरे ग्रन्थ के विषय के उपविषय-स्वरूप खण्ड किये जायँ और फिर इन उपविषयों के और छोटे छोटे खण्ड किये जायँ। फिर क्रमशः इन छोटे छोटे खण्डों का पृथक् पृथक् विवेचन किया जाय। सभी बड़े ग्रन्थों में यह करना पड़ता है। अन्यथा, विवेचन सुसम्बद्ध, सरल और शीघ्र समझ में आने योग्य नहीं होता। किसी ग्रन्थ के इन छोटे छोटे उपभागों को हिन्दी में अध्याय, परिच्छेद या प्रकरण कहते हैं। परन्तु कौटिल्य ने 'अध्याय' और 'प्रकरण' में भेद किया है। उसने प्रारम्भ में ही कहा है कि इस ग्रन्थ में 'पन्द्रह अधिकरण एक सौ पचास अध्याय, एक सौ अस्सी प्रकरण और छः हज़ार श्लोक हैं'। इससे स्पष्ट होता है कि एक अध्याय में एक से अधिक प्रकरण हो सकते हैं। क्योंकि ऐसा हुए बिना

अध्यायों की संख्या से प्रकरणों की संख्या अधिक नहीं हो सकती। इसके कई उदाहरण हैं। सातवें अधिकरण के चौथे अध्याय में पाँच प्रकरण हैं। इसी अधिकरण के पाँचवें अध्याय में तीन प्रकरण हैं और छठे अध्याय में दो प्रकरण हैं। इस प्रकार एक अध्याय में एक से अधिक प्रकरण होने के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। इससे ई यह कहेगा कि प्रकरण अध्याय का एक भाग है, परन्तु खेद है कि कौटिल्य ने प्रकरण और अध्याय का यह अर्थ अपनी पुस्तक में स्थिर नहीं रक्खा। इसका अपवाद बिलकुल प्रारम्भ में ही है पहले ही 'प्रकरण' में तीन 'अध्याय' हैं। तथापि समस्त पुस्तक को देखते हुए और पन्द्रहवें अधिकरण के पारिभाषिक शब्दों का अर्थ देखते हुए यही कहना पड़ता है कि 'प्रकरण' शब्द अधिक शास्त्रोक्त है। ग्रन्थ के भाग अधिकरण हैं तो अधिकरण के उपभाग प्रकरण हैं। पुस्तक के अध्याय नामक जो भाग हैं वे प्राय: निरर्थक हैं। इसका बड़ा भारी प्रमाण यह है कि प्रकरण के विषय को उन्होंने 'विधान' कहा है। परन्तु अध्याय का कोई एक विषय नहीं है और इस कारण प्रकरण के विषय के लिए जैसा 'विधान' शब्द है, वैसा अध्याय के लिए कोई शब्द भी नहीं। इस बात के उदाहरण के लिए ऊपर दिये उदाहरण ही लीजिए। हमने कहा है कि सातवें अधिकरण के चौथे अध्याय में पाँच प्रकरण हैं। अध्याय के प्रारम्भ में उन प्रकरणों के 'विधान' दे दिये हैं। वे ये हैं—

"विगृह्यासनं, सन्धायासनं, विगृह्ययानं, सन्धाययानं, सम्भूय-प्रयाणं च"। सारांश, कौटिल्य ने यदि 'अध्याय' शब्द का उपयोग न किया होता और पुस्तक के उपभागों को प्रकरण नाम ही दिया होता तो कोई हानि न होती।

'योग' शब्द का अर्थ क्या है, यह ठीक नहीं कह सकते। कौटिल्य की परिभाषा है, "एवमादिकमिति वाक्ययोजना योगः" और उदाहरण है, "चतुर्वर्णाश्रमो लोकः"। इसका शाम-शास्त्रीजी ने अनुवाद किया है—Pointing out similar facts by the use of such words as 'these and the like' is suggestion of similar facts; for example, the world consisting of four castes and four religious divisions and the like. 'एवम्' का अर्थ आपने 'these and the like' यानी 'ये और इसी प्रकार के' किया है। और इसी कारण परिभाषा के अनुवाद में आपने कहा है कि 'ये और इसी प्रकार के' शब्दों के द्वारा समान समान बातों का उल्लेख हो तो 'योग' होता है। तो प्रश्न उत्पन्न होता है 'प्रसंग' और 'योग' में भेद क्या रहा ? इसका कुछ भी उत्तर सूझ नहीं पड़ता। इस कारण हमें ऐसा मालूम होता है कि श्री शामशास्त्रीजी ने इस परिभाषा का जो अनुवाद किया है, वह ठीक नहीं। हमें इस परिभाषा का जो अर्थ सूझ पड़ता है वह यह है:—"यदि वाक्य-योजना के प्रारम्भ में एवम् (इसीलिए) आवे तो 'योग' होता है।"

खेद की बात है कि कौटिल्य के दिये उदाहरण में 'एवम्' प्रारम्भ में स्पष्टतया नहीं रक्खा गया है। परन्तु हम उसे अध्याहृत मान सकते हैं और इस उदाहरण के पहले का इससे सार्थक 'योग' हो जाता है। परन्तु यदि श्री शामशास्त्रीजी का अर्थ ठीक समझा जाय तो पहला प्रश्न यही उत्पन्न होता है कि इस वाक्य के बातों की समानता किससे सूचित की है। इसके उलटा, हमारा अर्थ अधिक ठीक जँचता है। क्योंकि इस उदाहरण के पहले वह इस बात का विचार कर रहा है कि 'राजदण्ड' के अभाव में संसार की क्या दशा होगी। फिर, वह अपना सिद्धान्त बतलाता है। इस सिद्धान्त का पहले के वाक्यों से 'इसलिए' शब्द से ही योग हो सकता है, अन्य शब्द के द्वारा नहीं।

'अर्थ-शास्त्र' के अँगरेज़ी के अनुवादक श्री शामशास्त्री ने 'विधान' का भी कुछ भिन्न अर्थ किया है। संस्कृत का वाक्य है, 'शास्त्रस्य प्रकरणानुपूर्वी विधानम्'—"विद्या-समुद्देशः, वृद्ध-संयोगः, इन्द्रियजयः अमात्योत्पत्तिः" इति। अनुवादक ने इसका अँगरेज़ी अनुवाद ऐसा किया है—A brief description of the matter contained in a book is its contents, as the end of learning; association with the aged; control of the organs of sense; the creation of ministers and the like. परन्तु उपरिलिखित संस्कृत-वाक्य का अर्थ हमारी क्षुद्रबुद्धि में अनुवादक ने ठीक नहीं

किया। पुस्तक के एक अधिकरण (यानी भाग) के विषय को विधान नहीं कहा है किन्तु 'एक प्रकरण के विषय' को विधान कहा है। हम समझते हैं शामशास्त्रीजी की भूल होने का कारण यह है कि कौटिल्य ने विधान का उदाहरण एक नहीं तो चार दिये और वे भी ऐसे जो एक ही अधिकरण में एक के बाद एक आये हैं। ये उदाहरण ग्रन्थकार ने प्रथम अधिकरण के प्रारम्भ के ही लिए हैं। हमारे अर्थ के पक्ष में एक बड़ी भारी बात है। यदि एक अधिकरण के सब विचारणीय विषयों को कौटिल्य ने विधान कहा होता तो उदाहरण देते समय उस अधिकरण के सब विषयों का उल्लेख उसने ज़रूर किया होता। प्रथम अधिकरण में अठारह विषय हैं। यदि अधिकरण के समूचे विषयों को कौटिल्य ने विधान कहा होता तो विधान का उदाहरण देते समय ग्रन्थकार अठारहों विषयों के नाम देता और फिर 'इति' लिखता परन्तु ग्रन्थकार ने केवल चार ही विषयों के नाम दिये, इससे यही जान पड़ता है कि प्रकरण के विषय को ही उसने 'विधान' कहा है। इसलिए हम उपरिलिखित संस्कृत-वाक्य का यह अर्थ करते हैं—शास्त्र के प्रकरणों के क्रमशः विषयों को 'विधान' कहते हैं।

प्रकरण या अध्याय के भागों को अँगरेज़ी में पैरेग्राफ़ (paragraph) कहते हैं। जहाँ तक हमें मालूम है, इसके लिए हिन्दुस्थानी भाषाओं में कोई निश्चित शब्द नहीं है। उर्दू

का 'कालम' और संस्कृत का 'परिच्छेद' ये दो शब्द ऐसे हैं जिनका अँगरेज़ी के पैरेग्राफ़ के लिए उपयोग हो सकता है। कोई कोई लेखक इस अँगरेज़ी-शब्द के लिए लेखांश, लेख-खण्ड या अँगरेज़ी के ही इस शब्द को उपयोग में लाते हैं। परन्तु अँगरेज़ी में ही इस शब्द का अर्थ-निश्चित नहीं है। जो वाक्य एक के बाद एक लिखे जाते हैं और जिनके प्रारम्भ में या बाद में वाक्य-लेखन नई रेखा से प्रारम्भ होता है उन सब वाक्यों का समष्टिसूचक नाम भी पैरेग्राफ़ कहलाता है। इसी कारण अँगरेज़ी के कुछ लेखक एक प्रकरण अथवा अध्याय के उपभागों को पैरेग्राफ़ न कह कर सेक्शन (section) अथवा (article) आर्टिकल कहते हैं। इस कारण एक सेक्शन अथवा आर्टिकल में एक से अधिक पैरेग्राफ़ हो सकते हैं। हम पहले ही बतला चुके हैं कि कौटिल्य ने शायद इसी अर्थ से 'वर्ग' शब्द का उपयोग किया है। श्रीयुत शामशास्त्री ने 'अर्थ-शास्त्र' का जिस प्रकार सम्पादन किया है उसमें अँगरेज़ी के पैरेग्राफ़ देख पड़ते हैं। परन्तु हम नहीं जानते कि मूल-ग्रन्थ में यह विशेषता थी या नहीं। यदि संस्कृत की प्रणाली का विचार किया जाय तो यही कहना होगा कि यह विशेषता सम्पादक की है, लेखक की नहीं। क्योंकि संस्कृत में बहुधा एक प्रकरण अँगरेज़ी का एक पैरेग्राफ़ होता है। एक प्रकरण के उपभाग में यानी पैरेग्राफ़ में पहले बहुधा 'ऊह्य' रहता है, फिर 'पूर्वपक्ष', फिर 'उत्तरपक्ष' और फिर 'एकान्त'। ऊह्य की परिभाषा करते

हुए कौटिल्य ने कहा है —"अनुक्तकरणमूह्यम्—"यथावद्दाता प्रतिगृहीता च नोपहतौ स्यातां तथाऽनुशयं कुशला: कल्पयेयु: इति।" इसका अनुवाद शायद शास्त्रीजी ने इस प्रकार किया है, "ऊह्य वह है जिसका निश्चय विचार के बाद किया जाता है—यथा, दाता और प्रतिगृहीता (देने और लेनेवाले) को कोई हानि न हो, ऐसी रीति से विज्ञ लोग निश्चय करें कि कोई दान जायज़ है या नहीं।" परन्तु हमारी समझ में यह उदाहरण बहुत अच्छा नहीं है। ऊह्य चाहे तो प्रश्न का रूप ले, चाहे 'उद्देश' हो जाय, चाहे 'विकल्प' का स्वरूप धारण करे, चाहे 'एकान्त' (यानी, आज-कल की भाषा में, सिद्धान्त) ही पहले बतला दिया जाय। विचार के बाद जो बात निश्चित करने की है, उसका स्वरूप इनमें से चाहे जो हो, उसे ऊह्य ही कहना चाहिए। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक 'ऊहापोह' अर्थात् विवेचन में 'ऊह्य' सदा स्पष्टतया बतला ही दिया जाता है, ऐसी बात नहीं है। कई बार वह स्पष्टतया नहीं बतलाया जाता, यानी वह अध्याहृत रहता है। 'पूर्वपक्ष' और 'उत्तरपक्ष' के उदाहरण बहुतेरे लोग जानते ही हैं। और कौटिल्य ने 'एकान्त' शब्द का उपयोग हमारे 'सिद्धान्त' के लिए किया है। किसी बात को सारांश में कह देना 'उद्देश' कहलाता है। कौटिल्य ने इसका अच्छा उदाहरण दिया है—"इन्द्रियों के संयमन पर ही विद्या और विनय की प्राप्ति अवलम्बित है।" यह सबको मालूम है ही

कि चाहे प्रश्नरूप में हो या उद्देशरूप में हो, दो भिन्न बातें एक कथन में जोड़ दी जाती हैं तो विकल्प उत्पन्न हो जाता है। कभी कभी किसी बात के 'ऊहापोह' में पहले बतलाई बात का उल्लेख कहीं करना पड़ता है। यह 'अतिक्रान्तावेक्षण' कहलाता है। और कभी कभी आगे कही जानेवाली बात का उल्लेख करना होता है। यह 'अनागतावेक्षण' कहलता है। जब कभी पहले बतलाई बात के समान ही बात बतलाने का मौका आता है और उसका उल्लेख होता है तब वह 'प्रसङ्ग' कहलाता है। इस शब्द का आज-कल का अर्थ बिलकुल भिन्न है। किसी बात को विस्तारपूर्वक कहने को 'निदश' कहते हैं। उदाहरणार्थ, 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका के द्वारा ज्ञान न होने को ही इन्द्रियजय कहते हैं।' इसी बात को सारांश में कह सकते थे; यथा, इन्द्रियविषयों का इन्द्रियों-द्वारा ज्ञान न होने को इन्द्रियजय कहते हैं। इसी 'उद्देश' का विस्तारपूर्वक कथन 'निर्देश' होगया है। आश्चर्य की बात है कि 'निर्देश' शब्द का अर्थ आज-कल बहुत कुछ बदल गया है। आज-कल मराठी में तो इसका अर्थ है किसी विवेचन में किसी बात का चलते चलते या सारांश में उल्लेख करना। कभी कभी किसी बात को अच्छी तरह समझाना पड़ता है यह 'व्याख्यान' कहलाता है। इसका उदाहरण यह है, 'विशेष करके सङ्घों में और सङ्घ के समान रहनेवाले राजकुलों में द्यूत ही कलह का कारण होता है, और कलह से उनका नाश

होता है। इसलिए व्यसनों में द्यूत का व्यसन सबसे बुरा है, क्योंकि इसके कारण राजा लोग किसी काम के लायक़ नहीं रह जाते'। लेखक को वास्तव में आख़िरी बात बतलानी थी। परन्तु वह यदि अच्छी तरह न समझाई जाय तो मन उसको ग्रहण नहीं कर सकेगा। इसी लिए उसका इतना व्याख्यान करना पड़ा। कभी कभी किसी बात को समझाने के लिए उदाहरण भी देने पड़ते हैं, जैसा हम अभी इन शब्दों का अर्थ समझाते समय कर रहे हैं। परन्तु उदाहरण को कौटिल्य ने 'निदर्शन' कहा है। हमारा अपवाद कौटिल्य की भाषा में 'अपवर्ग' है। अपवर्ग के धातु के अर्थ यानी उसकी व्युत्पत्ति (या, कौटिल्य की भाषा में, 'निर्वचन') की ओर ध्यान दें तो 'अपवाद' की अपेक्षा 'अपवर्ग' शब्द ही अधिक उचित जान पड़ता है। वर्ग से जो परे हो वह 'अपवर्ग' ही होना चाहिए। इसी को हम अपवाद कहा करते हैं। आगे आनेवाली बात से कोई बात सिद्ध की जाय तो वह 'प्रदेश' कहलाता है। कभी कभी किसी कारण से दूसरे स्थान अथवा दूसरे ग्रन्थ के वाक्यों को लिखना या कहना पड़ता है। इसे आज-कल हम 'अवतरण' या 'उद्धरण' कहते हैं। परन्तु कौटिल्य ने इसे 'अपदेश' कहा है। जब एक बात के सम्बन्ध में कोई नियम निश्चित हो चुका हो और उसका जब दूसरे समय उपयोग किया जाय तब वह कौटिल्य की भाषा में 'अतिदेश' होता है। कभी कभी एक बात की तुलना

दूसरी बात से की जाती है, इस तरह कोई बात सिद्ध की जाती है। इसको कौटिल्य ने 'उपमान' कहा है। आज-कल जिस बात या वस्तु से तुलना की जाती है उसे उपमान और तुलना को उपमा कहते हैं। कभी कभी शब्दों का यानी 'पदों' का 'अर्थ' निश्चित कर लेना होता है। उसे 'पदार्थ' कहते हैं। कभी कभी लेखक को शब्दों का किसी निजी अर्थ में उपयोग करना पड़ता है। ये शब्द 'स्वसंज्ञा' कहलाते हैं। जिस बात से कोई कथन सिद्ध हो वह 'हेत्वर्थ' कहलाता है। उदाहरणार्थ, अर्थ प्रधान वस्तु है, क्योंकि धर्म और काम दोनों अर्थ पर अवलम्बित हैं। इस वाक्य में जो पहला कथन है वह दूसरे से सिद्ध होता है। इसलिए दूसरा 'हेत्वर्थ' कहलाया। हमारे कथन से कभी कभी ऐसा अर्थ निकल सकता है जिसको हमने स्पष्टतया नहीं कहा है। वह 'अर्थापत्ति' कहलाता है। 'संसार में उन्नति करना हो तो परिश्रम करो। इससे यह अर्थ निकलता है कि 'यदि परिश्रम न करोगे तो उन्नति न कर सकोगे'। पहले वाक्य में यह अर्थ कहीं स्पष्टतया नहीं बतलाया गया है, परन्तु यह अर्थ उसी वाक्य से निकलता है। इसलिए वह 'अर्थापत्ति' हुआ। जब यह मालूम नहीं होता कि यह ठीक है या वह ठीक है, यह किया जाय या वह किया जाय, तब 'संशय' उत्पन्न होता है। इसका उपयोग आज-कल भी अलङ्कारशास्त्र में होता है। जब एक बात दूसरी विपरीत बात से सिद्ध हो तब 'विपर्यय' होता है। कभी कभी वाक्य पूरा न

करके आधा ही छोड़ देते हैं। उदाहरणार्थ, 'जो राम ने किया वही लक्ष्मण ने'। इस वाक्य का उत्तरार्द्ध 'वाक्यशेष' है। कभी कभी कोई वाक्य 'उपदेश' के समान होता है, तो कभी कभी 'नियोग' अर्थात् आज्ञा या आदेश का स्वरूप धारण करता है। 'धर्म और अर्थ के नियमों का उल्लङ्घन न करते हुए संसार के सुखों का उपभोग करना चाहिए' उपदेश का उदाहरण है। 'उसे धर्म और अर्थ के, न कि अधर्म और अनर्थ के नियम पढ़ाना चाहिए' नियोग का उदाहरण है। इन उदाहरणों को देख कर यदि कोई हमसे पूछे कि 'उपदेश' और 'नियोग' में भेद क्या है, तो हम केवल यही कह सकते हैं कि 'उपदेश' में निषेधात्मक शब्द नहीं हैं और 'नियोग' में निषेधात्मक शब्द भी हैं। हमें तो केवल यही भेद देख पड़ता है। उदाहरण से यह बात स्पष्ट है कि वाक्य आज्ञा के समान दीखने पर भी स्पष्टतया आज्ञा के रूप में नहीं है। 'संशय' में 'यह या वह' का प्रश्न रहता है तो 'समुच्चय' में 'यह और वह' दोनों रहते हैं। उदाहरणार्थ, 'पत्नी से उत्पन्न हुआ पुत्र पिता और पिता के बान्धवों का दायाद (वारस) होता है'। कभी कभी विवेचन में किसी दूसरे का मत उद्धृत करते हैं और उसका निषेध न करके आगे बढ़ जाते हैं। इस तरह से हम उसका मत स्वीकार ही करते हैं। इसे 'अनुमत' कहते हैं। कौटिल्य के दिये बत्तीस शब्दों के ये अर्थ और उदाहरण हैं।

यदि हम वर्तमान साहित्य-शास्त्र से इसकी तुलना करें तो यह सूची बहुत कुछ अपूर्ण है। फिर, कौटिल्य का विवेचन सुसम्बन्ध नहीं है। उसने पहले इन शब्दों की सूची दी है और फिर क्रमशः उनका अर्थ समझा कर उदाहरण दे दिया है, परन्तु लेख के गुण-दोषों के उदाहरण नहीं दिये हैं। हम समझते हैं कि लेख-विस्तार के कारण उसने ऐसा नहीं किया। उसका मुख्य विषय यह नहीं है। पन्द्रहवें अधि-करण में उसने इस कार्य के लिए नाम को भी न्याय-शास्त्र का आधार न लिया। नहीं तो यह अधिकरण शब्दों का कोश न बनता। न्याय-शास्त्र की रीति से यदि पुस्तक के खण्ड किये जायँ तो विवेचन सरल होगा और साथ ही सुसम्बन्ध भी होगा। इन शब्दों के अर्थ-कथन में कौटिल्य ने कोई क्रम नहीं बाँधा है। हमने उसके शब्दों की जो सूची प्रारम्भ में दी है उसी क्रम से वह अर्थ बतलाते चला गया है। वास्तव में इन शब्दों के दो वर्ग हो सकते हैं। एक तो विवेचन के भाग, उपभाग इत्यादि हैं। अधिकरण, विधान, उद्देश, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, एकान्त आदि इस वर्ग-भेद के उदाहरण हैं। दूसरे वर्ग में विवेचन की रीतियाँ आती हैं। उदाहरणार्थ, उपमान (कौटिल्य के अर्थ में), विपर्यय, संशय इत्यादि। इस तरह इस विवेचन में अनेक अपूर्णतायें और दोष हैं।

तथापि, जब भारतीय साहित्य-शास्त्र का इतिहास लिखा